कबीर के धार्मिक विश्वास

डा० धर्मपाल मैनी,
एम ए, पी-एच् डी,
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।
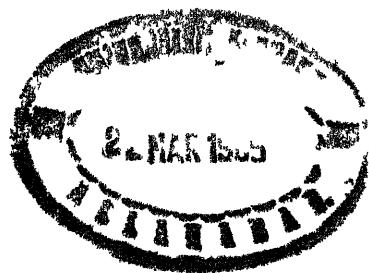
वितरक
भारतेन्दु भवन,
सैक्टर—१५ ए, चण्डीगढ़

समर्पण

'मेरो बहुरिया का
कमला नाउ रे।'

—धर्मपाल

दो शब्द

आयुष्मान् डा० धर्मपाल मैनी की पुस्तक 'कबीर के धार्मिक विश्वास' कबीर साहित्य के अध्ययन का एक नवीन प्रयास है। डा० मैनी ने कबीर के धार्मिक विश्वासो को बहुत कुशलता के साथ स्पष्ट किया है और सहानुभूति के साथ मूल्याकन किया है। कबीर भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। वे उन मार्गद्रष्टाओ में हैं जिनके बारे में बार बार लिखा जायेगा, फिर भी लिखने को कुछ रह ही जायेगा। मुझे प्रसन्नता है कि डा० मैनी ने नये सिरे से उनके धार्मिक विश्वासो का मूल्याकन किया है। आशा है धर्म-साधना के जिज्ञासु इस पुस्तक का स्वागत करेगे। परमात्मा से प्रार्थना है कि वे डा० मैनी को दीर्घ आयु और पूर्ण स्वास्थ्य दें, ताकि वे इस क्षेत्र मे अधिकाधिक कार्य करते रहे और नये ग्रथ देते रहे।

चण्डीगढ
६-१२-६४

हजारी प्रसाद द्विवेदी

परिचय

हिन्दी साहित्य मे शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा रखने वाले शुक्ल जी कबीर से आत्मीयता न स्थापित कर सके, लेकिन जब से रवीन्द्र के कवि ने अपनी अनुभूति मे कबीर की अनुभूति को साकार पाया, तब से भारतीय साहित्य मनीषियो ने भी उसे पहिचानने का प्रयत्न किया। इस परिचय और पहिचान के प्रयत्न मे बौद्धिक विश्लेषण-परक विद्वानो ने विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा अद्वैत या विशिष्टाद्वैत के पोषक और 'अक्खड शैलीकार' के रूप मे उसका अनेकविध साहित्यिक मूल्याकन किया। पर लगता है उसके केवल इस दार्शनिक या साहित्यिक मूल्याकन से जन मानस सन्तुष्ट नही हुआ, क्योकि इससे उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नही हुआ।

कबीर से परिचय बढते बढते मुझे ऐसा लगने लगा, कि उसकी अनुभूति मूलत धर्म-परक है। अत अपने साहित्यिक मूल्य और मान्यताओ से उसका उचित मूल्याकन तो क्या, परिचय भी नही हो सकता। उसे पहिचानने के प्रयत्न मे हमे अपने आपको उसके अनुरूप ढालना होगा। एक अनुभूति को तो रवीन्द्रवत किसी दूसरे की अनुभूति ही अनुभव कर सकती है। वह बहुत दूर की चीज है, यह किसी से छिपा नही। लेकिन आज के वैज्ञानिक कृत्रिम जगत् मे

क्या नही उपलब्ध ? बौद्धिक कल्पना से अनुभूति का भी अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। यहा उसकी अनुभूति नही, उसकी भी अभिव्यक्ति मे उपलब्ध-निम्न साधन स्वरूप धार्मिक विश्वासो को समझने के प्रयत्न मे विश्वास के माध्यम से बौद्धिक-सम्बद्धता के अतिरिक्त लेखक का अपना कुछ भी नही, और उसमे भी बौद्धिक पाठक को बहुत-सी असगतियो से परिचय होगा, विश्वास-परायण की दृष्टि उन पर नही भी पड सकती।

'विश्व-सरकार' के इस युग मे, एक ही 'मानव-धर्म' की भी आवश्यकता है। कबीर के माध्यम से इन सन्तो की मान्यताओ मे—लगता है, इस 'मानव-धर्म' के तत्त्व ही संगृहीत हुए हैं। और सच पूछा जावे, तो 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' (सारा विश्व ही एक परिवार है) का उद्घोष करने वाली भारतीय सस्कृति की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले ये सन्त ही हैं, जिन्होने धम, अर्थ, कर्म और जाति के किसी भी वर्ग को स्वीकार किए बिना क्रियात्मक जीवन के माध्यम से अपना सन्देश प्रसरित किया है। आज विश्व को ऐसे ही आचरण-प्रधान, उदार, निश्छल और निष्कलुष व्यक्तियो की आवश्यकता है। शायद इनके धार्मिक विश्वास ऐसे व्यक्तियो के उद्भूत होने के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने मे कुछ सहायक हो सके।

भारतीय साहित्य मे प्रधान रूप से और हिन्दी-साहित्य मे प्रथम और प्रमुख रूप से कबीर के अनुभूति-परक व्यक्तित्व से सहज आत्मीयता अनुभव करने वाले गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' आज भी मूर्धन्य है और एक

युग तक बना रहेगा। प्रत्यक्ष गुरु और उनकी कृति की प्रेरणा के बावजूद भी लेखक की अशक्त अभिव्यक्ति उसकी सीमित सामर्थ्य और शक्ति की परिचायिका है। फिर भी इस कृति की आवश्यकता क्यों ? शायद इसलिए कि यह इस प्रकार के महान् साहित्य तक पहुँचने और उसे समझकर अपनाने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सके और साधन भी बन सके। साहित्यिक जगत मे लेखक का यह एक अन्य विश्वास-परायण पग-चिह्न है।

आर्य प्रैस अम्बाला के सहयोग तथा भाषा-विभाग, पंजाब के अनुदान को भी लेखक साभार स्वीकार करता है।

सन्तों के धार्मिक विश्वास

भाग १

कबीर के धार्मिक विश्वास

निर्गुण—निराकार, निरंकार, निरंजन, निरबानी, निर्विकार, निर्मल, निर्दोष, निरन्तर (सदास्थायी)।

सर्वव्यापक—सर्वान्तिर्यामी, सर्वस्वामी, सर्वदानी, सर्वरूप सर्वकर्ता, सदा स्थायी, सदा एक रूप (समरूप) अतः सर्वश्रेष्ठ, एकमात्र सत्य।

लौकिक गुण—कृपालु, रक्षक, भवतारक, ज्योति-प्रकाशक, अदृश्य, परन्तु अनुभूति गम्य।

ब्रह्म की स्थिति—एक देशीय न होकर सर्वव्यापक केवल अन्तर मे प्राप्य।

ब्रह्म का स्वरूप—अतीन्द्रिय, गुणातीत अतः निर्गुण, निराकार।

ब्रह्म का सम्बन्ध—आत्मा से, अंश होते हुए भी ऐक्य, जीव से, कबीर से, गुरु से सत एवं भक्त से, माया से, सृष्टि से। २०-४८

४. सृष्टि :

निर्माण, रचना-प्रक्रिया, अस्थिर, नश्वर।

जीवात्मा—उत्पत्ति, ब्रह्म का अंश, स्थूल से सूक्ष्म का विकास, परवश जीव, क्षणिक देह, जीवन, सांसारिक सम्बन्ध, योनि भ्रमण, गुरु, सन्त, भक्त। ४६-६५

५. कबीर का साध्य :

माया से रक्षा, यम से रक्षा, भव-बन्धन का नाश-भव-पार-आवागमन रहित होना (मोक्ष प्राप्ति), भगवत्-प्राप्ति-ब्रह्मज्ञान ब्रह्मरसपान—ब्रह्मानुभूति, साध्य का

व्यक्तित्व

परम्परीण मान्यताओं में क्रान्ति उत्पन्न करने वाला व्यक्तित्व महान् होता है और कबीर ने भी अपने युग में यही किया था। उसका व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति और कर्म की सामग्री के उस अनुपात से तैयार हुआ था, जिसे उसके बाद सम्भवत: ब्रह्म भी भूल गया। उसका ज्ञान पढाई का नही, गुढाई का ज्ञान था, अन्त: ज्ञान था, स्वत उद्भूत ज्ञान था। चन्द्र की भांति सूर्य को नो ज्यातित होने के लिए ज्योति की आवश्यकता नही, वह स्वतः अग्नि-पिण्ड जो है। कबीर की भक्ति अनन्य और अनवरत थी, जिसका आधार थी उनकी अनुभूति। अनुभूति भी आज के रहस्यवादी कवियो जैसी काल्पनिक नही, अपितु अनुभूत अनुभूति। उनका कर्म था क्रियात्मक। निष्काम कर्मण्य-जीवन उनका आदर्श नही, उनका दैनिक व्यावहारिक जीवन था। यह कहना भूल है, कि कबीर ने उपदेश दिया था, उसने तो केवल सन्देश दिया था, अपनी आत्मा का—अनुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यम से। वह ऐसा जुलाहा था, जैसा न हुआ है न होगा। उसने जो वस्त्र तैयार किया, वह भी उसके व्यक्तित्व की तरह अनश्वर है। उसकी वाणियो से सूतो से बुना हुआ यह मानव-धर्म सत्य, नित्य एवं कल्याणकारी वह आकर्षक वस्त्र है, जिसे युग युग तक मानव-मात्र ओढ़ता रहे, पर सम्भवत: अपना न सके। कबीर के वस्त्रो को ओढ़ कर अपनाने वाले भी उसी की तरह अमर हो गये हैं और होते

रहेंगे। भारतीय मनीषाके क्षितिज पर रवीन्द्र, गान्धी और अरविंद ऐसी ही तीन विभूतिया अभी विलुप्त हुई हैं। जो हो, न हिन्दू न मुसलमान जात से मनुष्य, न योगा न भोगी—कर्म से कोरी, न राजा न शासक—समाज के नियन्ता, न ज्ञानी न भक्त—केवल सन्त, और ससार के लिए जो न जन्मे न मरे (क्योकि किम्वदन्ती के अनुसार जन्म के बदले उहे लहरतारा तालाब के पास पाया गया था तथा मृत्यु के समय चादर के के नीचे फूल ही मिले थे, जिन्हें हिन्दू और मुसलमानो ने आधा आधा बाट लिया था)। ऐतिहासिक भौतिक दृष्टि से तो यह सत्य ही है कि दैवीय आत्माएँ, युग की आवश्यतानुसार अवतरित होती हैं और समय की पुकार का समुचित उत्तर देकर तिरोहित हो जाती हैं। अपने कृत्यो व कृतियो के माध्यम से वे अमर होती हैं। जुलाहे का कपड़ा भी उतना ही मजबूत है, जितना विश्व के जुलाहे का। उसने भी सूर्य और चन्द्र की ढरकियो से विश्व-वस्त्र का निर्माण किया था।[1] कोरी ही कोरी की जान सकता है। कबीर की वाणी इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

हिन्दू सस्कार और मुस्लिम प्रभाव में पोषित वयनजीवी वंश में कबीर उत्पन्न हुए थे, यह प्राय: सभी विद्वानों को मान्य है। यह बात और है, कि कुछ उन्हें हिन्दू परिवार की देन और मुस्लिम जुलाहा परिवार मे पोषित समझते हैं, तथा दूसरे पूर्णत: मुस्लिम परिवार का ही रत्न मानते हैं।

---

[1] गुरु ग्रन्थ पृ० ४७६, क ३।

इसी प्रकार उनके जन्म और मृत्यु के विषय में कई मत हैं और उपयुक्त प्रमाणो के अभाव मे विद्वान किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुँच सके हैं।

सम्वत् १४५५ कबीर की लोक-प्रसिद्ध जन्म-तिथि है। कुछ विद्वानो ने रामानन्द की मृत्यु-तिथि का अनुमान पन्द्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे किया है और उसका शिष्य होने के कारण कबीर की जन्म तिथि को भी वहा तक ले जाने का प्रयत्न किया, लेकिन किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में उनकी यह धारणा न तो विद्वानो मे ही मान्यता प्राप्त कर सकी और न ही साधारण पाठक को औचित्य-पूर्ण प्रतीत हुई। इस लिये कबीर की परम्परागत जन्म तिथि सम्वत् १४५५ ही अधिक मान्य है।

उनकी मृत्यु तिथि के विषय मे इससे भी अधिक मत-भेद है, जिसका आधार अन्यान्य अनुमान है। श्रद्धालु पथ अनुयायियों के अनुसार उन्होने १२० वर्ष की आयु पाई थी और उनकी मृत्यु सम्वत् १५७५ मे मगहर मे हुई थी। इस विश्वास के आधार-निम्न दोहे की प्रामाणिकता के विषय मे अभी अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है—

'सवत पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदो एकादसो, रलो पौन मे पौन॥'

नवाब बिजली खां ने कबीर का स्मारक सम्वत १५०५ में बनवाया था इस मत को मानने वालो ने उनका निधन-काल यही स्वीकार किया है। और संवत् १५५२ मे गुरु नानक से उनकी भेट को प्रामाणिक मानकर कुछ विद्वानो

ने उनकी मृत्यु संवत् १५५३ में स्वीकार की है। इस समय उनकी आयु ९८ वर्ष की होगी। हो सकता है कि उनकी आयु १२० वर्ष की रही हो, परन्तु यह बहुत सम्भव नही। ९८ वर्ष की आयु भी कम नही होती। इस विषय मे भी ऐसे प्रबल प्रमाण किसी पक्ष के पास नही हैं, कि सभी विद्वान् एक मत हो, उसे स्वीकार कर लें। ऐसी अवस्था मे उनका ९८ वर्ष जीवित रहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

कबीर के जन्म-स्थान के विषय में भी ठीक २ कुछ नही कहा जा सकता। 'काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताए।' इसका तथा इसी प्रकार की उनकी अन्य उक्तियो का आश्रय लेकर विशेषत: जिनमें उन्होने अपने आप को 'कासी का जुलाहा' कहते हुए ब्राह्मणों को चुनौती दी है—बहुत से विद्वानो ने काशी को ही उनका जन्म-स्थान स्वीकार किया है। लेकिन

"पहले दरसन मगहर पायो, पुनि काशी बसे आई।"

को प्रामाणिक मानकर तथा 'मृत्यु के समय अपने जन्म-स्थान की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति' को महत्व पूर्ण बता कर कुछ विद्वानों ने मगहर को उनका जन्म-स्थान माना हैं। मगहर में आज भी जुलाहो की बस्ती का होना, उनके लिये एक अन्य प्रबल प्रमाण प्रतीत होता है। कुछ लोगों ने काशी के निकट ही 'लहर तारा' तालाब का अनुमान कर वहीं इनका जन्म स्थान स्वीकार किया है। नीरु जुलाहा दम्पति ने उसी तालाब के पास पड़ा हुआ इन्हें पाया था—इस किम्वदन्ती की सार्थकता भी इस मत से पुष्ट होती है। उनके

अन्य भी बहुत से पदों से उनका काशी-प्रेम प्रगट होता है और जीवन का अधिकाश भाग उन्होने काशी में ही बिताया है, 'बहुत बरस तप कीआ कासी।' इस सबसे, अधिक सम्भावना यही है कि नगर काशी नही तो उसको परिधि में पडने वाले किसी निकट बर्त्ती ग्राम में हो। उनका जन्म हुआ था, इसी से जीवन का अधिक भाग भी उन्होने वहीं बिताया, लेकिन मरने के समय बाह्याडम्बरो के प्रचण्ड विरोधक कबीर को ब्राह्मणों की चुनौती का क्रियात्मक उत्तर देने के लिए मगहर जाना पड़ा था, क्योंकि उन्होंने इस चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया था—

'सगल जनमु सिवपुरी गंवाइया,
मरती बार मगहर उठि धाइया।'

मगहर में मर कर अपने इस विश्वास को उन्होने सत्य सिद्ध कर दिखाया, कि सत्कर्मों का फल ही अच्छा होता है, न कि काशी में मर कर स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है।

उनका प्रसिद्ध नाम कबीर ही है। यद्यपि पंथ में कबीर साहब उनका नाम प्रचलित हुआ है तथा बहुत से पदों में दास कबीर या कही कहीं कबीरदास भी देखने को मिलता है। वस्तुत: आडम्बरवादियों के प्रति उद्दण्ड कबीर भगवान् के प्रति सदैव श्रद्धावनत रहा है और 'दास' शब्द इसी का द्योतक है।

यूं तो महान् व्यक्तियों की एक ही जाति होती है—मानव। और मध्यकालीन सन्तों ने

"हरि को भजै सो हरि का होई"

कह कर 'भगवद्भक्त' नामक एक नई जाति का निर्माण कर लिया था, जिसके कबीर उज्ज्वलनम रत्न थे। लेकिन हिन्दू और मुसलमान, कोरी तथा जुलाहा जातियो के चक्कर मे पडने वाले आधुनिक युग के बौद्धिको ने उन्हे तर्क वितर्क के चक्कर में फमा कर एक विशेष जाति के बधन मे बाधने का प्रयत्न किया है।

'तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलाहा बूझहु मोर गिआना।'

इसी प्रकार कई बार उन्होने अपने जुलाहा कहने में ही गौरव अनुभव किया, और कही कही उन्होने अपने को 'कोरी' भी कहा है। मूलत दोनो ही वयन-जीवी हैं। आज के बौद्धिक अनुसंधित्सुओ ने यह भेद करने में देर नही लगाई, कि ये जुलाहे मुसलमान थे और कोरी हिन्दू। फिर भी कबीर दोनो में से किस वश मे हुए यह झगडा बना ही रहा। स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद से विधवा ब्राह्मणी की कोख से जन्म लेना तथा मुस्लिम नीरु जुलाहा दम्पति द्वारा उसका पोषित होना—दोनो ही प्रसिद्ध किवदन्तिया हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी जैसी किसी आश्रम भ्रष्ट जाति से मुसलान हुई थी या अभो होने की राह मे थी।'[1] यह कह कर उन्होने योगी या जुगी जाति को कोरी या जुलाहा से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। मूलतः जो बात उन्होने कही है वह यह है कि हिंदू सस्कार नाथ पन्थियो के माध्यम से इन योगियो में

कबीर प्रस्तावना पृष्ठ १.१।

आये थे और उन सस्कारो के स्थान पर जिन योगियो में नाथ पन्थियो के विश्वास ही प्रबल हो गये थे या हो रहे थे, वे योगी ही धीरे धीरे मुस्लिम-धर्म ग्रहण कर रहे थे ऐसे ही वश मे कबीर का पालन पोषण हुआ।

कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का वंश एसा था, जिसमे बहुतायत से हिन्दू सस्कार जीवित थे, लेकिन उनके आचारो पर अधिक प्रभाव मुसलमानों का था। उनका क्रियात्मक जीवन वयनजीवियो का था, जिस पर इन दोनो से भी अधिक नाथ-पथी योगियो की छाप अकित प्रतीत होती है। वस्तुतः कबीर ने अपने को हिन्दू और मुसलमान दोनो से अलग स्वीकार किया है, इसी लिए उनकी एक मात्र सर्वमान्य जाति थी—मानव और उनका व्यापक और उदार धर्म था—मानवता, बन्धन हीन, आडम्बर एव आवरण हीन।

इसके बावजूद भी कि कबीर ने गुरु को गोबिंद से भी उच्च-पद प्रदान किया है, कुछ विद्वानो ने न जाने यह कैसे स्वीकार कर लिया, कि कबीर 'निगुरे' थे। यह बहुत उपयुक्त नही प्रतीत होता। निम्न जाति का होने के कारण जब कबीर सीधे-से रामानन्द का शिष्यत्व न पा सके, तो सीढियों पर लेट कर स्नान के लिए आते हुए स्वामी रामानन्द के चरण-स्पर्श में भी उन्होने राम-नाम की दीक्षा ले ली। इस किवदन्ती में कुछ तथ्य हो या न हो लेकिन राम से अनुप्राणित कबीर के जीवन से इसमें से इस सत्य की गध अवश्य आता है, कि उन्होंने राम-नाम को दीक्षा अवश्य ली होगी और बहुत सम्भव है कि उनके दीक्षा-गुरु रामानन्द ही रहे

हों। यद्यपि कुछ विद्वानों ने शेख तकी को भी उनका गुरु मानने का प्रयत्न किया है, लेकिन यह कल्पना बिल्कुल भी संगत नही प्रतीत होती, सम्भवत. इसी लिए प्राय: सभी विद्वानो ने इस मत को अग्राह्य घोषित किया और रामानन्द को ही उनका गुरु स्वीकार किया है। यह ठीक है, कि सत्सग का उन्होंने कथनी और करनी में विशेष महत्त्व स्वीकार किया है और जीवन भर इसके माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान करते रहे, लेकिन उनके समग्र जीवन और देन का मूल्यांकन करते हुये हमें यह मानने में सकोच नही होना चाहिए कि उनके दीक्षा-गुरु रामानन्द ही हो सकते हैं, अन्य कोई नही।

'बूड़ा बंस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।
हरि का सुमरिन छाडि के, घर ले आया माल ।।'

यदि यह पद प्रामाणिक है, तो कबीर के पुत्र अवश्य था और यदि पुत्र था, तो पत्नी भी अवश्यथी—यह और बात है, कि एक ही थी या दो। जो एक के मरने के बाद आ गई होगी। वस्तुत. जैसे कबीर का जीवन सरल और स्पष्ट नही था,उसी प्रकार उनके जीवन-सम्बन्धी इतिवृत्त भी अस्पष्ट ही हैं।

कुछ विद्वानों का कहना हैं, कि लोई उनकी शिष्या-मात्र थी। दूसरों का कहना है, कि वह उनकी पत्नी थी। तीसरो ने दोनों में बहुत अच्छा समझौता करवा दिया, यह कह कर, कि पहले या बाद में शिष्या भी रही होगी, पर पत्नी अवश्य थी। कहते हैं, दूर से आने वाले साधु अतिथि की सूचना पाकर वह कबीर से विशेष प्रभावित हुई थी, तभी से

उसके साथ रहने लगी। इस किम्वदन्ती का कुछ सत्य भी उनके इस सम्बन्ध में दिखाई देता है। एक जगह उन्होने कहा है—

'पहिली करुपी कुजाति कुलखनी।
अब को सरुपी सुजाति सुलखनी॥'

इससे उनकी दो स्त्रिया होने का अनुमान लगाया गया है, जिनके रूप, गुण का भी वर्णन मिलता है। एक अन्य उद्धरण के आधार पर कुछ विद्वानो ने एक का नाम लोई और दूसरी का धनिया या राम जनिया बताया है। उन्होंने भी कहा है—'मेरी बहुरिया का धनिया नाउ।' यह लगभग निश्चित प्रतात होता है, कि उनकी एक पत्नी तो थी ही और कमाल नामक उनका एक पुत्र भी हो। कबीर की मां उससे बहुत नाराज रहती थी, क्योकि वह भौतिक-समृद्धि की प्राप्ति के लिये तो अधिक उद्यम नही करता था—यद्यपि वह जीवन-भर ताना-बाना बुनता रहा, लेकिन अधिक सम्भावना यही है, कि वह गुजारे भर के लिये कमाता होगा और सग्रह की उसे कोई चिन्ता न होगी, इसी से उसकी मां को बराबर यह चिता बनी रही, कि इसे 'ताना बाना कछू न सूझै' और यह 'हरि हरि रसैं लपटिश्रो।' मा ने उसे कई बार समझाया भी 'हमारे कुल कउने रामु कहिश्रो', लेकिन वह कहा मानने वाला था, तब उसने खीझ कर कहा—

'जबकि माला लई निपूले तब ते सुखु न भइश्रो।'

भक्त का लौकिक परिवार सुखी रह भी कैसे सकता था। एक दो स्थानों पर उसने अपने पिता का उल्लेख भी किया है, पर उससे उनके किसी विशेष व्यवहार और गुणों पर

प्रकाश नही पडता । एक जगह उसने लिखा है—'बापि दिलासा मेरो कीन्हा ।' सम्भवत. यह तभी का उल्लेख हो, जब मा के क्रोधित होने पर कबीर रूठ गया हो । सक्षेपत कहा जा सकता है, कि कबीर भी सामान्य लौकिक गृहस्थ था । मा की झिड़कियां, बाप का दिलासा, पत्नी के उलाहने, और कुपूत कमाल सभी उनके जीवन के वरदान थे । इस सामान्य गृहस्थ की महिमा इसी में है, कि इसने इस बन्धन में बध कर भी निर्लिप्त दृष्टि से अपना मार्ग बनाए रखा—और निवृत्ति-परक प्रवृत्ति का मध्य-मार्ग चुनकर जन-जीवन को उन्नत पारिवारिक जीवन का क्रियात्मक संदेश दिया ।

'हम घर सूत तनहि नित ताना ।'

सूत के ताने-बाने में ही वे जीवन के ताने-बाने का सत्य ढूंढते रहे । आजीविका अर्जित करने के लिये उन्होने वयन-जीवी बने रहना ही उपयुक्त समझा । उनकी वाणियो में प्रयुक्त ताने-बाने के रूपको को ध्यान से देखने से पता चलता है, कि उन्हें अपने व्यवसाय का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था । विश्व-स्रष्टा को कोरी कह कर उसने उससे अदभुत तादात्म्य स्थापित किया है । इसी में उनके लौकिक और पारलौकिक जीवन का अद्वितीय-समन्वय और संतुलन देखने को मिलता है ।

सत्संग को ही वे सर्वोत्तम तीर्थ-यात्रा समझते थे। इसीलिये उस युग के घुमक्कड़ संतो की तरह उपदेश देने या अपने विचारों का प्रचार करने बहुत इधर-उधर नही घूमे, क्योंकि ऐसा करने में उन्हे अपने व्यवसाय से हाथ धोना पड़ता, जो उन्हें उपयुक्त न प्रतीत हुआ । इसीलिये उन्होने बहुत

कम यात्राएं की। उनकी समाधियो तथा अन्य अनुमानों के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है, कि वे रतनपुर, जगन्नाथ पुरी तथा गुजरात भी गये थे। पर यह बहुत सम्भव नही प्रतीत होता, हा ! मगहर वे अवश्य गये थे और 'गोमती-तीर' आदि कुछ आस-पास के स्थानो पर भी कभी गये होगे, इसमें सन्देह नही।

उनका जीवन बडे सघर्षो मे व्यतीत हुआ था। बालपन से ही द्विविधाओ ने उनका साथ दिया था। जैसा कि किंवदन्ती के आधार पर प्रचलित है, कि विधवा के घर जन्म और जन्मते ही फैंके जाना, पुनः नीरु जुलाहे के पास पालन-पोषण-यह सब सामान्य जीवन का प्रवाह नही है। इसी प्रकार बडे होकर मा की झिड़किया तथा और बड़े होकर पत्नी के उलाहने यह सब भी उनके लिये सरस-जीवन का गौरव नही बन सका। न केवल घर मे ही यह हालत थी, बाहर तो और भी बुरी दशा थी। पाडे और पडित से तो उलझते ही रहते थे, काजी और मुल्ला से भी वैर लेने में उन्होने कभी देर नही लगाई। बस एक अपनी ही धुन के पक्के थे। उन्हें जो गलत लगता था, उसे खुले मैदान मे भी कहने में कभी न चूके थे, चाहे फिर भी दुश्मन क्यो न हो जावे और उसका कुछ भी दुष्परिणाम उन्हें क्यो न भुगतना पडे। इस सौदे मे वे ज्ञानी-अज्ञानी, छोटे बड़े, राजा-रक किसी से भी न डरे थे—इसीलिये उन्हे राजा ने क्रोधित हाथी के सामने 'भुजा बाध मिलाकरि डारियो' लेकिन उस भगवत्-विश्वासी भक्त को न जाने भगवान् ने कैसे बचा लिया। पुन. गगा मे डुबाने के लिये जिस जजीर से बाध कर फैका गया था, गगा ने भी कबीर को डुबाने के स्थान पर

उस जंजीर को ही तोड़ कर डुबा दिया और उसे तो उबार दिया—अद्‌भुत है विधि का विधान और भक्त का विश्वास। इस अद्‌भुत विश्वास के सहारे ही युग २ से भगवद्भक्त जीवन बलिदान भी करते आये हैं। सम्भवत: इन विरोधो, पीड़ाओ और यातनाओ के कारण हो वे अधिक उद्दण्ड और प्रचण्ड हो गये थे। जहा भगवान् और उनके सच्चे भक्तो के प्रति उनमें श्रद्धा और नम्रता थी, वहा आडम्बरवादियों के प्रति उनमे आक्रोश था। अद्‌भुत था उनका जीवन और व्यक्तित्व, जिसमें विरोधी कार्यों और गुणों का विशिष्ट समाहार उपलब्ध है।

सेन, पीपा, रैदास और धन्ना इनके गुरु-भाई प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इस दृष्टि से इन सब का समय-निर्धारण तथा परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। और जो हो या न लेकिन इनकी वाणियों का अध्ययन करने से इनकी विचार-धारा मे अद्‌भुत साम्य अवश्य मिलता है। ये सब समकालीन रहे हो या न, हा ये एक परम्परा में अवश्य थे और विचारधारा की दृष्टि से यह परम्परा रामानन्द की परम्परा ही कहला सकती है। कबीर का व्यक्तित्व इन सब से प्रखर था, अत. रामानन्द के बाद वे युग-प्रवर्त्तक बन बैठे।

कबीर ने बड़े व्यापक जन-समुदाय को प्रभावित किया था। उसमें वर्ग, व्यवसाय, जाति, अवस्था आदि का विचार त्याग कर सभी कोटि के व्यक्ति थे। इतना होने पर भी नियमित शिष्य-परम्परा चलाने की दृष्टि से उन्होने किसी विशेष शिष्य को ऐसे अधिकार न दिये थे। उन्होंने अपनी कृतियों में किसी शिष्य का उल्लेख भी नही किया। परन्तु

भक्त-परम्परा के आधार पर उनका रोजा बनवाने वाले बिजली खा, कबीर-पथ की छत्तीसगढ की शाखा के प्रवर्त्तक धर्मदास तथा उनकी पंथ-परम्परा को काशी में चलाने वाले सुरतगोपाल का नाम उनकी शिष्य-परम्परा मे सादर लिया जाता है। यह और बात है, कि जिस मूर्त्ति-पूजा और बाह्याडम्बरो का विरोध करते २ उन्होने जीवन बिता दिया, उनके शिष्यो द्वारा प्रचलित पथो की शाखाओ मे उन्ही की मूर्त्ति की पूजा होने लगी और सब आचारो का रूप भी निर्धारित कर दिया। विश्व के सभी धर्मों के उन्नायकों के विषय में यह सत्य प्रतीत होता है, कि ज्यो २ किसी धर्म की जीवत-शक्ति क्षीण होती जाती है, त्यो २ वह भी आचार-प्रधान हो कर समुदाय के रूप में व्यापक तो हो जाता है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से प्रभाव और महत्व हीन भी होता जाता है। कबीर नही, उसके अनुयायियों द्वारा प्रवर्त्तित कबीर-पथ भी इसका अपवाद नही।

सत्य के प्रति आग्रह और असत्य पर आघात, भक्त से आत्मीयता और मायावी से अलगाव, कथनी मे शङ्कित और करनी में विश्वास, निवृत्ति-परक होते हुए भी प्रवृत्ति-परक जीवन, सत होते हुए भी पूर्ण गृहस्थी; सघर्षमय जीवन बिताते हुये भी, स्वतः सरल, उपदेश देने वाले होकर भी स्वतः आचरणशील, सामान्य होकर भी असामान्य एव अद्वितीय स्वभाव, कृतित्व एव व्यक्तित्व रखने वाले युग-द्रष्टा कबीर युग-नायक भी थे। उनके इस व्यक्तित्व को महान् बनाने वाले धार्मिक विश्वासों का ही अध्ययन अगले पृष्ठो में किया गया है।

—२—

यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः[1]

ऐहिक एव पारलौकिक सुख, शान्ति एव समृद्धि की ओर ले जाने वाला साधन धर्म है। सृष्टि के विकास-क्रम के साथ साथ बौद्धिक मानव मृत्यु के माध्यम से यम के सहारक प्रहार को न सह सका। सदा बने रहने की बलवती इच्छा ने उसमे एक अज्ञात शक्ति के प्रति भय उत्पन्न कर दिया। उस भय से ही मानव मे उस शक्ति के प्रति विश्वास, श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न हुआ। यह भगवत्प्रेम ही धीरे धीरे कुछ बन्धनो के साथ मानव-धर्म मे परिणत हुआ।

यो तो 'धारणाद्धर्मइत्याहु'[2] धारण करने से ही धर्म बन जाता है। इसीलिए अग्नि का धर्म दाहकता है। जो हो, धर्म के इन मूल तत्त्वो से जब मानव सम्बद्ध होता है, तब वे ही मानव-धर्म का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार मानव-धर्म के भी दो उद्देश्य हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—ऐहिक एव पारलौकिक सुख, शाति व समृद्धि पाना। मूलतः ऐहिक समृद्धि अपने आप मे साध्य नही, वह तो केवल साधन रूप मे स्वीकार्य हो सकती है। भ्रम से ऐहिक सुखो को ही मानव साध्य समझ बैठता है, वस्तुतः पारलौकिक उन्नति एव अविरल आनन्द मे तल्लीनता ही मानव-जीवन का साध्य है। और जो मानव जीवन का साध्य है, वही मानव-धर्म का

---

1. वैशेषिक दर्शन १. १।

2. महाभारत पर्व ६६, ५९।

उद्देश्य हो सकता है। सम्भवत. इसी कारण धर्म के दो पक्ष है, सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार (आचार) पक्ष। स्मृति कार ने 'आचारप्रभवो धर्म.'[3] कह कर आचार का महत्त्व स्थापित किया था। क्योकि उन सब सिद्धान्तो का ज्ञान व्यर्थ है, जिन्हे जीवन मे क्रियात्मक रूप नही दिया जा सकता। यद्यपि युधिष्ठिर को 'सत्यवद' का पाठ एक मास भर न याद हो सका था, तथापि धर्मराज की उपाधि ने उन्ही को विभूषित किया था। इतना होते हुए भी सत्य के ज्ञान के बिना उसे आचरण मे उतारना यदि असम्भव नही, तो कठिन अवश्य है। अत. सिद्धान्त पक्ष का ज्ञान होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि उसके व्यवहार (आचार) पक्ष का। दिव्य आत्माओ की अनुभूति पर अधारित सिद्धान्तो को आधार बना कर सम्यक् व्यवहार (आचार) से जीवन व्यतीत करना ही वह धार्मिक जीवन है, जो निर्लिप्त मानव को ऐहिक सुखो के माध्यम से पारलौकि सुख और शांति की ओर ले जाता है।

मानव-धर्म महान् है। उसे किसी तर्क की नही, अनुभूति की आवश्यकता होती है। उसके आचार मे किसी बाह्य बंधन का नही, एकमात्र सद्भाव और निर्लिप्तता का ही राज्य होता है। लेकिन मानव पारिवारिक एवं सामूहिक प्राणी है, अतः उसने मानव-धर्म को भी सामाजिकता के कटघरे में बन्द करना प्रारम्भ कर दिया। सामाजिकता के संकीर्ण घेरे मे मानव-धर्म पनप नही सकता, अतः उपयुक्त क्षेत्र के अभाव में उसमें भी विकार आने अवश्यम्भावी हैं। इन विकारों के ही परिणाम स्वरूप श्री कृष्ण को कहना पडा था—

3. मनुस्मृति, १, १०२।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥"[4]

धर्म के नाश और अधर्म की वृद्धि होने पर ही दिव्य आत्माओ को संसार में अवतरित होना पडता है। ये दिव्य आत्माए और कुछ नहीं, वे ही लौकिक महापुरुष हैं, जिन्होने अन्त करण मे स्थित ब्रह्म को उद्भासित कर लिया है। परिस्थितियो का ऐसा करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संयोग एव सहयोग होता है। सम्भवत: इसीलिये बर्कले ने तो यहां तक कहा है, कि विश्व की महान् विभूतियाँ काल-प्रसूत होती है।' जो बहुत सत्य है। रावण की विकृत प्रतिभा से उत्पन्न दुराचारों ने प्रवासी दशरथ-पुत्र को राम बना दिया था। कस के अत्याचारो तथा दुर्योधन के 'सूच्यग्र नैव दास्यामि' (सुई की नोक के बराबर भी भूमि न दूगा) वाले हठ ने ब्रज की गोपियो के 'कन्हैया' को भगवान् श्री कृष्ण बनने पर विवश कर दिया था। 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' ब्राह्मणो के याज्ञिक अनाचारो ने बुद्ध की प्रसुप्त सहज-प्रतिभा को उद्बुद्ध कर उसे भगवान बुद्ध बना दिया था। इसी परम्परा में भारतीय मनीषा के क्षितिज पर अभारतीय मानव मानव नही, दानवो की राजनैतिक एव सामाजिक ही नही, अपितु धार्मिक क्षेत्र की नृशसता तथा भारतीय धर्म नही, उसके आचार के आडम्बर ने कबीर को कबीर (महान्) बनने के लिए पुकारा था। इसी लिये द्विवेदी जी को लिखना पडा—'कबीर आविर्भूत हुए थे।[5] वे आविर्भूत हुये हो या न! लेकिन यह

---

4. गीता अध्याय ४, ७।

5. कबीर: आचार्य हजारीप्रसाद द्वि. पृ. १७०।

नितांत सत्य है, कि उन्होने ब्रह्म को अवश्य ही अपने अन्त:-करण मे 'आविर्भूत' कर लिया था। इसी लिये सत्य का कवच पहन कर, कटु सत्यो का प्रहार करते हुए उन्होंने समाज के सब अधार्मिक ठेकेदारो को झाड कर, फटकार कर, और समझाकर अन्त मे सहलाया भी, ताकि वे उचित धर्म मार्ग पर अग्रसर हो सके।

कबीर अपनी आत्मा के सच्चे पुजारी थे और वे जानते थे कि सत्य दो नही हो सकते। इसीलिए उन्होने किसी सत्य का कभी विरोध नही किया और जो सत्य नही, वह धर्म भी नही हो सकता, अत: उन्होने किसी धर्म का भी विरोध नही किया, उन्होंने तो केवल सत्य तथा धर्म के आवरण के नीचे जमी हुई मैल को बाहर निकाल फैकने का प्रयत्न किया, अत: कबीर के धर्म की सबसे पहली और सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होने आज के आडम्बर पूर्ण 'कबीर-पंथ' का सृजन न करके सर्वजनीन चिरतन मानव-धर्म की स्थापना की थी। आत्मा के सच्चे सेवक होने के कारण कबीर मन्त्रद्रष्टा: ऋषियो से भिन्न स्तर पर न थे और दिव्य-आत्माओ की अनुभूतियां प्रायः एक-सी होती हैं, क्योंकि अनुभूति निश्छल और पवित्र अन्त.करण की ध्वनि होती है। कबीर का काव्य इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

कबीर का 'कबीरत्व' इसी मे है, कि उसने केवल 'अनभौ साच' को ही अभिव्यक्ति दी। इसलिए उसके कथन मे सत्य का बल, वाणी का ओज, भाषा की सरलता और सादगी, जिन्दगी की सच्चाई, वास्तविक आचार की रूप रेखा, हृदय

का पीड़न, भाव का उच्छलन, ज्ञान का प्रकाश, बौद्धिकता का विकास, मानव-मन का स्वभाव, समाज का कल्याण हैं और इनसे भी बढ़ कर है, जीवन का अमर सन्देश—एकमात्र सत्य से तादात्म्य। जिसने उसे पहिचाना, वह अमर हो गया, जिसने उसे जाना, वह ज्ञानी हो गया; जिसने उसके रहस्य को समझा वह समझदार हो गया, जिसने उसे पढ़ा, वह पण्डित हो गया; जिसने उसे सुना वह निर्मल हो गया; और जिसने उसे अपनाया, वह तो स्वय कबीर (महान्) ही हो गया।

कबीर जन्म, जाति, और कर्म से सामान्य मानव थे, इसी लिये उनके माध्यम से मानव धर्म का प्रसार हुआ। वे दार्शनिक न थे, लेकिन उन्होंने सम्पूर्ण दर्शनो के तत्त्वो के दर्शन कर लिये थे, वे तार्किक भी न थे, परन्तु वे उनके प्रत्येक तर्क से परिचित थे; वे वेद पाठी भी न थे, पर वेदो का सार ससार को पढ़ाने की क्षमता रखते थे, वे पुस्तकी विद्या के ज्ञाता न थे, पर अथाह ज्ञान के भण्डार थे; वे सामाजिक दृष्टि से बाह्य आचारवान न थे, पर उनका व्यक्ति आचार-निष्ठ था; अत: वे सामान्य होकर भी असामान्य थे और किसी के कुछ भी न होकर सभी के सब कुछ थे।

उनके 'कर्म और धर्म' में एकता थी; 'कथनी और करनी' में साम्य था; 'कहनी और रहनी' में समरूपता थी। उनका धर्म 'नकद धर्म' था, जिसका उधार उनको मान्य नही, जिसे सीमित रखना उन्हें सह्य नही और जिसका उपदेश उन्हें ग्राह्य नही, क्योंकि वे तो केवल सन्देश देने की साधना लेकर आये थे—वह भी कथनी नही, करनी के माध्यम

से। इसीलिए कबीर का धर्म योग में अटका नही, वहा से 'सहज' बन कर निकल आया; ज्ञान मे उलझा नही, वहां से 'विवेक' बन कर चला आया; और भक्ति में रमा नहीं, वहा से अनुभूति बन कर बह निकला। अतः वह विभिन्न मतो से विवाद करके भी स्वतः किसी 'वाद' के चक्कर में नही फँसे, अन्यान्य सम्प्रदायो से झगड कर भी किसी झगड़े मे नही उलझे, इसी लिए किसी विशिष्ट समुदाय के धर्म-प्रणेता न बन मानव-धर्म के निर्माता बने।

कबीर दार्शनिक न थे, अत. उन्हें किसी दर्शन विशेष के बंधन में बांधना उनके साथ और अपने साथ अन्याय होगा। क्योकि अनुभूति तर्क की सीमाओ से परे की वस्तु है और दर्शन का तो आधार ही तक है। इसी कारण अद्वैतवाद की ओर रुझान रखने वाले बौद्धिकों ने उनकी अनुभूतियो को अपने विचारो के अनुकूल ढालकर उन्हे विशिष्ट सम्प्रदाय के समर्थक बताया है। न केवल उनकी अनुभूति, अपितु उन्ही की अभिव्यक्ति को विषयानुकूल सम्बद्ध कर सरल व स्पष्ट गद्य मे प्रस्तुत करने का हमारा प्रयत्न है। यहा उनके धार्मिक विश्वासो का अध्ययन ब्रह्म, सृष्टि, जीव, उसका साध्य, तथा अवरोधक शक्तियो के माध्यम से हुआ है।

ब्रह्म माहात्म्य

कबीर सात समुंदहि मसु करउ,
कलम करउ बनराइ।
वसुधा कागदु जउ करउ,
हरि जसु लिखतु न जाइ।[6]

ब्रह्म का माहात्म्य तो इतने से ही स्पष्ट है कि उसका गुणांकित करने के लिए अनपढ कबीर को भी 'वसुधा, कागदु, तथा सात समुंदहि मसु' की सामग्री अत्यल्प ही प्रतीत हुई, फिर वह हरिगुण कैसे लिख सकता था। कबीर तो जीव ही था 'सनक' 'सनन्दन' आदि भी उसका गुणगान करते हैं[7] लेकिन बे अन्त के अनन्त माहात्म्य का अन्त कहाँ। न केवल सुरपति, नरपति उसकी महिमा को कहने में असमर्थ हैं अपितु "चारु वेद और सिम्रित पुराना" इसके महत्व का बखान करने में अशक्त हैं। नारद और शारदा उसकी सेवा में उपस्थित हैं और ब्रह्मपत्नी कमला तो दासो ही बनी बैठी है। लेकिन उसका गौरव नारी की सीमाओ से भी परे है।[8] "ठाढा ब्रह्मा निगम बीचारै" लेकिन "अलखु न लखिआ

---

6. 'ग्रंथ' श्लोक ८१

7. पृष्ठ ३३६ पद ७४

8. पृ० ४७८, १३

जाइ।" औरो की तो बात ही दूर रही लेकिन स्वय ब्रह्मा भी ब्रह्म को न जान सका।[9] अगणित चन्द्र तथा सूर्य जहां दीपक का कार्य करते हुए प्रकाश करते है, असख्य धर्मराज जिसके प्रहरी हैं और देवताओ की तो बात ही क्या—उनके भी राजा 'इन्द्रकोटि जाके सेवा करहि'[10] ऐसे ब्रह्म के माहात्म्य का क्या कभी बखान हो सकता है -मानव कल्पना से भी दूर की बात है।

न केवल अरूप उसके रूप की कल्पना ही महान है. अपितु उसकी कर्तृत्व-शक्ति का ज्ञान भी मानव-मन की सीमाओ में आबद्ध नही हो सकता। वह जब चाहे हँसते को रुला देता है और रोते को हसा देता है। 'जल ते थल करि' और थल से कूप तथा पुन. मेरु पर्वत तक बना डालता है। क्षण भर में भिखारी को राजा और 'राजा ते भिखारी' बना देता है। सक्षेप• मे मानव-मन की सभी अकल्प्य कल्पनाओ को भी वह क्षण भर में साकार व सार्थक कर देता है। वाणी को अदम्य अभिव्यक्ति से भी जब वे सन्तुष्ट न हो सके, तब उसे 'गूगे का गुण' कह कर उन्होने सन्तोष किया। गुरु नानक ने "मैं मूरख कहणु न जाई" कह कर अपनी विनम्रता का परिचय दिया है। भक्त शिरोमणि तुलसी दास ने गुण गान करते हुए थक कर कहा—'अनत हरि की कथाए भी अनत हैं।' और यह कहकर वे स्वांतः सुख में लीन हो

9. पृ० ११२०, ५

10 पृ० १८५४, ३.

11 पृ० ७६४, १, १.

गये। इतना होते हुए भी लेखक का यह लघु प्रयत्न 'तितीर्षुं दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' (पोत से भी दुस्तर महान् सागर को तैरने का) दुस्साहसमात्र समझा जा सकता है, जिसका दोष लेखक को नही, महान् अनुभूतियो की अभि-व्यक्ति के अध्ययन और उससे प्राप्त अदम्य प्रेरणा तथा अन-वरत उत्साह को ही दिया जा सकता है।

आविर्भाव

कबीर का ब्रह्म निर्विवाद रूप से अजन्मा, अनादि तथा अयोनि है, लेकिन भक्त की भक्ति में इतनी शक्ति है कि अपनी अनुभूति से वह उसे अन्तर में उद्‌भासित कर लेता है। इसी लिये कहा है, 'पूति पिता इकु आइया'[12] पुत्र (आत्मा) पिता (परमात्मा) को आविर्भूत कर लेती है और 'दिल महि साईं परगटै''[13]।

ब्रह्म के गुण

वास्कलि के आत्मा क्या है ? यह पूछने पर भाव को आत्मा ने दो बार मूक रह कर उसे अपना सन्देश दे दिया था—लेकिन उसके न समझने पर तीसरी बार भाव को कहना ही पडा था कि 'आत्मा मौन है'[14]। सम्भवत. इसी लिए 'आत्मान विद्धि' (अपने आप को जानो) का भारतीय दर्शन में मानव जीवन के साध्य के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है। आत्मा तो शान्त है लेकिन परमात्मा क्या है ?

---

12. पृ० ६२५, ६.

13 श्लोक १८६

14. दास गुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग पृ० ४१।

'स एष नेति'[15] 'वह यह भी नही' 'वह भी नही' इत्यादि। 'मन्त्र द्रष्टार' ऋषियो ने इस नेति पद्धति से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है। कबीर की अनुभूति भो उनसे बहुत भिन्न नही है। अत. उसी पद्धति का आश्रय लेकर हम कबीर के ब्रह्म को समझने का प्रयत्न करेगे। कबीर का ब्रह्म अनादि है और अनादि होने के साथ साथ वह अजन्मा भी है क्योकि 'आवै न जाई मरै न जीवै'[16]। और जो विश्व मे नही आता वह अयोनि भी है, इसीलिये बह अनायास ही अमर भी है। 'अगम-अगोचर रहै निरन्तरि'[17] वह न केवल 'अगम' और अगोचर है अपितु अलघ्य व अतर भी है, उसे लाघ कर आगे बढने की बात तो दूर रही, उस तक पहुँचना भी असम्भव नही, तो अति कठिन अवश्य हैं। अन्तर्हित होने के कारण उसका पार भी नही, पाया जा सकता, 'ना अन्तु न पारु'।[18] और जिसका अन्त नही उसकी गहराई का भी क्या ज्ञान, 'थया अथाह थाह नही पावा[19]' जीव तो क्या शिव-शुकदेव भी उस ब्रह्म की थाह न पा सके। उसके गुणो की थाह पाने में प्रयत्नशील कबीर उसे अनन्त कह कर सन्तोष करते हैं। क्योकि 'वेद पडि पडि ब्रह्मे जनमु गवाइया'।[20] लेकिन अनन्त का अन्त कहा? अनन्त ही जो ठहरा।

अनन्त होने के कारण ही वह अनश्वर, अविनाशी, अक्षर

---

15. बृहदारण्यकोपनिषद्—४, ४, २२।

16 पृ० ३३३, ४७.

17. पृ० ३३३, ४८.

18. पृ० ११२६, १०.

19. पृ० ३४१, २३.

20. पृ० ४७८, १०.

एवं 'अमर' है। काल की अबाध गति से कोई नही बच सका लेकिन एक मात्र ब्रह्म 'सदा स्थिर' है। 'दुई अखर न खिसहि'[21] सम्पूर्ण वर्णमाला का विश्लेषण कर कबीर ने अनुभव किया कि 'रा' और 'म' दो ही अक्षर ऐसे हैं जो वस्तुतः 'अक्षर' हैं. अतः भक्त जीवन की सार्थकता उन्ही मे तल्लीन होने में है। अनन्त कह कर भी कबीर के धैर्य में ही उसकी अपनी महत्ता छिपी है। उसकी अतृप्ति एव असन्तोष मे ही उसकी अनन्य भक्ति के दर्शन होते हैं। ब्रह्म को अनन्त कहने के पश्चात् वह और कुछ न कहें एसी बात नही, अपनी सामर्थ्य को सीमित. जान कर वह प्रयत्नशोल न रहें ऐसी बात भी नही, उसे लगन है अनवरत एव अनन्य, वह भी अनन्त की। अरेख और 'अरूप' असीम तथा अज्ञेय कह कर भी वह उसे छोड़ने को तैयार नही, उसके अलौकिक रूप और गुणो को छोड कर लौकिकता के माध्यम से वह हमें अनुमेय का अनुमान कराना चाहता है, अज्ञेय का ज्ञान कराना चाहता है और चाहता है अमूल्य का मूल्य जतलाना। 'कोऊ हरि समानि नही राजा'[22]। संसार के राजाओ से तो ब्रह्म का सेवक ही अच्छा है। अतः वह तो 'असम' और अनुपम है। लौकिक सम्पत्ति की तरह 'सो दिया न जाई'[23] और एक बार प्राप्त करके उसे छोडा भी नही जा सकता। इस प्रकार 'अदेय' और 'अत्याज्य' ब्रह्म 'अभेद्य' व अच्छेद्य भी है। उसकी तो बात ही दूर की है। उसके नाम-मात्र का भी 'अग्नि न दहै[24]'' और न ही सम्पूर्ण लौकिक सम्पत्ति देकर उसे खरीदा ही जा सकता

---

21. श्लोक १७१.
22 पृ० ८५६, ५.
23. ६५१, ६.
24 ३३६, ५८.

है, इसलिए वह 'अज्ञेय भी है। लेकिन सन्तों ने अमूल्य ब्रह्म को 'मनु दे राम लीया है मोलि'[25]। इस प्रकार भौतिक स्थूल गुणो से परे के ब्रह्म को भावात्मक सूक्ष्म गुणों से भी दूर बताया है। कबीर का ब्रह्म घट घट निवासी होकर भी स्वयं अघट अशरीरो ही है और अघट • होने के कारण ही एकमात्र वह 'अमन है। क्योंकि 'मना ब्रह्मा, मैला इन्दु[26] विश्व मे सभी कुछ तो मैला है। 'आवत दीसै जात न जानी'[27] अदृश्य वह इन्द्रियातीत भी है, उसे तो केवल चर्म चक्षुओ के स्थान पर अन्त चक्षुओ का ही विषय बनाया जा सकता है। विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय का उपयोग करने पर भी वह अवर्णनीय ही बना रहता है। "पडै सुनै किया होई'[28] वेदो के पढ़ने व श्रवण से भी वह ज्ञेय नही, जो वाणी उसका कथन नही कर पाती—कबीर उसे 'गूगे का गुड'[29] कह कर ही सन्तोष कर लेता है। रूप रहित अस्पृश्य ब्रह्म इन्द्रियातीत होकर केवल अनुभूति-गम्य है, क्योंकि चचलमन की उच्चतम कल्पनाये भी उस तक नही पहुँच पाती।[30] ज्ञान की साधिका बुद्धि भी इसे अपनी सीमा मे नही बाध पाती।

कबीर कवि नही, जो मन से ब्रह्म की कल्पना कर पाता, वह ज्ञानी भी नही, जो बुद्धि से उसका चितन कर पाता, वह योगी तो था ही नही, जो योग व सिद्धि द्वारा उसे प्राप्त कर पाता। वह तो अनन्य भक्त है, जिसने अनवरत लगन के कारण उसकी अनुभूति की है।

---

25. ३२७, १६.

26 ३४४, ११.

27. पृ० ३३७, ६२

28. पृष्ठ ६५५, ६२।

29. ,, ३२७, १८।

30. श्लोक ८६।

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् सभी गुणो से रहित क्योंकि गुणो का आरोप करते ही वह सगुण हो जाता है। जब गुणों के आधार-रूप को वह धारण करता है, तो साकार बन जाता है। कबीर को ब्रह्म का यह रूप मान्य नही, इसीलिये उसने स्पष्ट ही कहा है, कि अपनी इन्द्रियो को अन्तर्मुखी कर के कोई बिरला ही उसके निर्गुण स्वरूप को जान पाता है। जिसे अभिव्यक्ति देने मे वह असमर्थ है।[31] न केवल ब्रह्म को सर्व-व्यापक कहा है, अपितु उसके अवतार रूप का खण्डन करते हुए कहा है, कि यदि भक्त-उद्धारक श्री कृष्ण नन्द का पुत्र था, तो नन्द किसका पुत्र था ?[32] कितना सरल और मधुर होते हुए भी सशक्त तर्क है। 'निरजन ध्यावहु'[33] कह कर उसने निर्गुण के ही निरजन रूप का भी महत्त्व स्थापित किया है तथा अन्त में उसी को निरकार और निरबानी कह कर उसकी आरती उतारी है।[34] एक मात्र वह निर्मल होने के साथ साथ विकार-रहित होने के कारण निर्विकार भी है, और जिसमें कोई विकार ही नही, उसमें दोष की सम्भावना कैसी ? अत: वह निर्दोष भी है।[35] 'तहँ उतपति परलउ नाही'[26] जहां उत्पत्ति और प्रलय ही नही, वहां उसका नित्य स्थाई रूप स्पष्ट हो जाता है। वह न केवल जन्म और मरण से परे है, अपितु सभी लौकिक गुणों से भी अतीत है।

'सभ घट देखउ पीउ'[37] प्रत्येक प्राणी में उसके दर्शन होते हैं, अतः वह सर्वान्तिर्यामी है। और 'जीउ एक अरु

31. पृ० ३३३,४७। 32. पृ० ३३८, ७०।
33. पृ० ३३७, १८। 34. पृ० १३५०,५।
25. पृ० ११५४, ८। 36. पृ० ३३३, ४८। 37. श्लोक २३५।

सकल सरोरा'[38] अत वह सर्व-व्यापक भी है। सर्व व्यापक वह एक रूप या सम रूप है, क्योकि घट फूटने पर भी उसकी स्थिति मे कोई अन्तर नही आता। और वह तो 'त्रिभुवन महि रहिओ समाई'।[39] विश्व के अणु-परमाणु में व्याप्त होने के कारण वह सर्वत्र विद्यमान है। बाग देते हुए मुल्ला को धिक्कारते हुए उसने कहा है कि सर्वव्यापक वह सर्वज्ञ भी है।[40] अतः दुराचार करने से पूर्व मानव को उसके इस गुण का ध्यान रखना चाहिए, तब वह अनायास ही पापकर्मो से बच सकेगा।

यह सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ ब्रह्म ही सृष्टि कर्त्ता एवं सर्व-स्रष्टा है। सृष्टि रचना-क्रम पर प्रकाश डालते हुए उसने बताया है कि सर्व प्रथम प्रकाश, पुन: प्रकृति एवं तत्पश्चात् प्राणी व मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। 'माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हारै।'[41] कुम्हार-ब्रह्म ने जिस माटी से अन्यान्य घटो का निर्माण किया है—उनमें परिवर्त्तन आ सकता है, लेकिन उपादान माटी तो वही रहेगी। 'समु जगु आनि तनाइओ ताणा'[42] जुलाहा कबीर ब्रह्म को जुलाहा बनाकर उससे विश्व का ताना-बाना न बुनवाता, तो उसकी आत्मीयता का परिचय कहां से मिलता। लेकिन इस रहस्य को उसके सिवाय और कोई नही जानता। इस आत्मा का विकास भी उस ब्रह्म से हो हुआ है और इसे आधार प्रदान करने के लिए उसने ही तो 'धूरि सकेलि के पुरीआ बांधि देह'[43] थोड़ी सी धूल की पुडिया बांध कर देह

38. पृ. ३३०, ३६। 39. पृ० ३४१, २२।
40. श्लोक १५४। 41. पृ. १३५०, ३।
42. पृ. ४८४, ३१। 43. श्लोक १७८।

खड़ा कर दिया—आज का बौद्धिक-मानव अपने वास्तविक अस्तित्व को समझे तो अनायास ही उसके 'अहं' का विघटन हो जावे और भावनाओ का उदात्तीकरण हो वह सच्चे अर्थों में मानव-तत्त्व के निकट आ सकेगा। काश ! सृष्टिकर्त्ता के इस खेल को कोई नही जानता।[44] यह सर्व स्रष्टा ही सर्वकर्त्ता एवं सर्व-नियन्ता भी है, क्योंकि यही तो सहारक महेश साधन यम का भी स्रष्टा है। इसलिए जीव से कहताहै कि के 'तुमरो कहिओ न होइ' क्योंकि विधाता ने तुम्हारे कर्मों के अणुरूप जो विधान कर दिया है, उसे 'मेटि न साकै कोइ [45] और 'करम बध तुम जीअ'[46] फिर जीव की स्वतन्त्र सत्ता ही क्या ? इस प्रकार कबीर पूर्ण विश्वास दिलवा देता है, कि जो उजडे को बसाता है, जल को थल और थल को जलमय कर देता है, एक मात्र वही सृष्टिकर्ता के सम्पूर्ण कार्यो का कर्त्ता है 'न हम की आन करहिगे ना करि सकै सरीरु।[47] अत जीव को उसकी कर्तृत्व शक्ति में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए।

एकमात्र कर्त्ता ही सर्व-शक्तिमान् व सर्व-समर्थ है। तीनों लोकों को उसी ने शृङ्खला-बद्ध किया है, अत ऐसे महान् स्वामी 'हरि तजि कत काहू कै जाही।'[48] यह सर्व-समर्थ ब्रह्म ही तो सर्व-नियंता भी है, क्योकि 'आपै दह दिस आप चलावै'[49] और उसके नियत्रण के बिना कोई कार्य सम्पन्न भी नही हो सकता। विश्व के बडे से बड़े

44. श्लोक १७६।
55. श्लोक ३२।
46. पृ. ८७०, ३।
47. श्लोक १
48. पृ. ३००, ३८।
49. ११२३, २।

दानी उसके सम्मुख याचक बनकर गिडगिडाते हैं, ऐसे व्यक्तियो के आगे कबीर क्योकर हाथ पसारे, वह तो स्वतः ही ऐसे दानी की खोज मे है, जो सब कुछ देने की क्षमता रखता हो 'तुम समरथ दाते चारि पदारथ देत न बार'[50] जीवन मे एक मात्र प्राप्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी कुछ देने में वह क्षण भर का समय भी नही लगाता, इससे स्पष्ट है, कि सर्व-नियंता ही एक मात्र सर्व-दानी है। सम्पूर्ण लौकिक और अलौकिक सम्पत्ति का एक मात्र 'दाता इकु रघुराई।'[51] जो ठहरा।

सर्व-दानी, सर्व-व्यापक वह सदा स्थिर होने के कारण सव-समयी भी है, न कोई स्थल और न ही कोई ऐसा समय जहा उसका अभाव हो। जीव के विश्वास और अनुभव की बात है, कि उसका साक्षात्कार कर सके। यह सदा एकरूप या समरूप बना रहता है, उसमे कभी कोई परिवर्तन नही, क्योकि शिव आदि देवताओ की तरह वह तो काल-कवलित होता नहीं। इसलिए एकैमात्र वही सत्य-चिरतन सत्य है, अतः सर्वभावेन उसी में पूर्ण आत्म-समर्पण करना चाहिए, क्योंकि उस व्यथित जीव का जिसने 'कहूँ न पाइआ ठौर'[52] एक मात्र सहायक व आश्रयदाता ब्रह्म ही है, कबीर की अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली—'तिस बिन दूसर को नही।'[53] कितना सरस भावात्मक सत्य है।

'ज्योति सरुपी तत अनूप।'[54] अनुपम वह ज्योति स्वरूप है और उसकी ज्योति को अनुभव करने के लिए

---

50. पृ ८५६, ७
51. पृ. ४२४, २।
52. श्लोक ६२।
53. श्लोक १२३।
54. पृ. ३४४, ११।

आवश्यक है, कि जीव पहले इस बात को समझ ले, कि वह 'एक अनेक होई रहिओ सगल महि।'[55] तब अपने अन्तर में भी उसकी सत्ता व ज्योति का प्रकाश अनुभव हो सकता है। अन्तर में उसकी ज्योति की अनुभूति होते ही 'छूटै भरमु मिलै गोविंदु' और 'दहदिस होइ आनदु।'[56] इस आनद के लिए ही तो जीव जन्म भर चक्कर काटता रहता है। यह होता तब है, जब ब्रह्म की जीव पर कृपा हो। इस कृपा के परिणाम-स्वरूप ही माया का बंधन तोड़ कर वह जीव के हृदय की 'कुटिल गाठि जब खोलै देव'[57] तब उसका उद्धार होता है। अन्यान्य विश्व के सभी भक्तों के उद्धार के उदाहरण प्रस्तुत कर कबीर ने उसके कृपालु और उद्धारक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अब तक उसके महात्म्य का दर्शन अलौकिक गुणों के माध्यम से करवाया था, लेकिन वे गुण तो मानव बुद्धि को आश्चर्यान्वित अधिक करते हैं, वैयक्तिक जीवन को प्रभावित कम। लौकिक धरातल पर उसकी सत्ता की महत्ता तो लौकिक गुणो के माध्यम से ही स्थापित की जा सकती है। इसीलिये तो बाह्य भ्रम के आवरण तथा आतरिक अज्ञान को दूर कर अंतर को अपनी ज्योति से ज्योतित करने वाला उसे बताया है।[58] उसका कृपा पात्र भक्त अनायास ही पुकार उठता है 'राम समान न देखउ आन।'[59] इसीलिए तो उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भक्त कहता है, कि जीवन भर 'हरि सेवा करउ तुमारी।'[60]

कृपालु वह ही तो भक्त का एक मात्र रक्षक है, सत

55. पृ. ११०४, ४। 56. पृ. ३४४, ११।
57. पृ. ८५७, १२। 58. पृ. ३४४, ११।
59. पृ. ३२६, ३४। 60. पृ. ६७०, ८।

'प्रहलाद की पैंज जिनि राखी' और ऐसा करने के लिए उसी ने तो 'हरनाखसु नख बिदरिस्रो।'[61] भगवान् के इस भक्त-रक्षक व उद्धारक रूप ने ही श्री कृष्ण को यह कहने पर विवश कर दिया था—

'यदा २ हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥'[62]

यह उद्धारक और रक्षक ही तो एकमात्र 'तरन तारन सोई।'[63] क्योकि जो स्वय ही जगत् के पार नही पहुँच सकता, वह औरो को क्या पार पहुँचावेगा। ऐसा उद्धारक ही जीव के सब कष्टो को दूर करता है और उसके भय का नाश कर एक मात्र सफल शरणदाता सिद्ध होता है।[64] इस प्रकार लौकिक विपदाओ से जीव की रक्षा कर—लौकिक सम्पदाओ के माध्यम से अलौकिक आनन्द तक पहुंचाने वाला स्रष्टा ही भक्त का एक मात्र आश्रय स्थल है, अत: सर्व भावेन भक्त को उसी के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिए।

इस प्रकार कबीर का अनादि एवं अनन्त ब्रह्म जो न केवल अतान्द्रिय और अज्ञेय ही है, अपितु वह तो अननुमेय भी है, किस प्रकार उसकी कोई झलक विश्व को दी जा सकती है। कबीर का दृढ़ विश्वास ब्रह्म की महत्ता से कम महान् नहीं, उसका अनुभव है, कि भक्त की अनन्य, अनवरत व सशक्त भक्ति अनायास ही ब्रह्म का भी दर्शन करवा देती है। कबीर का साधन प्रस्तुत करता है 'हरि पदु

61 पृ. ८२६,४।
62. गीता अध्याय ४, ७।
63 पृ. ४८२, २६।
64. पृ, ६६६, ३।

दृढ़ करि रहिए[65]' ऐसा करने से धीरे २ जीव का 'मिटै मोह तनु ताप' और पुन. उसे 'हरख सोग दाझै नही' और जब जोव को सुख-दु.ख विचलित न कर सकेंगे, तब अवश्य ही वह महत् तत्त्व को अनुभव करना प्रारम्भ करेगा अथवा 'हरि आपहि आप ।'[66] कौन जानता है कि वह अपने ही भगवत् अश को उभार कर अभेद दृष्टि से उसी की महत्ता को अनुभव करने लग जावे। इस प्रकार अननुमेय केवल अनुभूति गम्य है। नाम मे तल्लीन होकर जिसने उसमें चित्त लगाया है 'कहु कबीर तौ अनभउ पाइया।'[67] इस अनुभव में ही उसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी लिए तो 'अब मेरा मनु कतहूँ न जाहि।'[68] क्योकि आनन्द का वही तो एक मात्र आगार है। लौकिक दृष्टि से सभी प्रकार से अगम्य, अदृश्य अज्ञेय व अप्राप्य ब्रह्म भी भक्त की पहुँच से दूर नही— इस पहुँच तक पहुँच जाने मे ही तो कबीर की और भक्त की महिमा है, जिसका एकमात्र साधन है अनुभूति।

ब्रह्माण्ड मे ब्रह्म की स्थिति कहा है ? यह भी कम कौतूहलोत्पादक विषय नही ? यो तो सर्वव्यापक होते हुए भी वह एकदेशीय नही। उसके गुणो मे यह विरोधाभास ही जीव को आश्चर्यान्वित कर देता है। उसकी 'निरारी' 'अकथ कथा' को कबीर कहने का प्रयत्न करता है, कि वह तो वहा हे जहां, 'पावस सिन्धु धूप नही छहीआ तह उतपति परलउ नाही[69]' सिन्धु, बर्षा, धूप, छाह की तो बात ही अलग वहां

65. पृ. ३३४, ५१।
66 श्लोक १८१।
67. पृ. ३२८,२७।
68 पृ. १ १०३, २।
69. पृ ३३३, ४८।

तो उत्पत्ति और और प्रलय भी नही है। इतना ही नही, वहा 'जीवन मिरतु न दुःख सुख बिआपै।' ऐसा स्थान तो ब्रह्माण्ड भर में ढूढ निकालना कठिन होगा। इससे भी बढ कर 'राति दिवस तह नाहि।' इसकी भी सम्भावना हो सकती है, लेकिन उसने तो प्रकृति के मूल भूत पांचों तत्त्वों की स्थिति को भी स्वीकार नही किया—'जलु नही पवनु पावकु फुनि नाही।' ऐसे स्थान पर ही तो अनुपम और अनन्य की स्थिति हो सकती है। 'उहा सूरज नहीं चन्द'[70] क्योकि उसे तो किसी अन्य ज्योति से ज्योतित होने की आवश्यकता नही। सम्पूर्ण वाङ्मय का साधन जो बावन अक्षर है, इन्ही में तीनो लोक एवं सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है, लेकिन 'ओइ अखर इन महि नाही' क्योंकि 'ए अखर खिरि जाहिगे'[71] अत. ब्रह्म को स्थिति तो सम्पूर्ण वाङ्मय में भी नहीं आ पाती, क्योंकि यह सीमित और नश्वर है। लेकिन वह इन गुणो की सीमाओ की परिधि से बाहर है, कि उसकी स्थिति कही भी नही, लेकिन हम यह भी भूल नही सकते कि सर्व व्यापक एवं सर्वान्तरर्यामी होने के कारण वह 'सगल घट भीतर'[71] निवास करता है 'इस घर मह है।'[72] वह न केवल इस घट रूपी घर में है अपितु उसकी इससे भी सूक्ष्म स्थिति है, अन्यथा घट के नष्ट हो जाने पर उसकी सत्ता कहा? लेकिन ऐसा नही होता। 'हिरदै कमल महि हरि का बास'[73] इस स्थूल देह में भी उसका

70. पृ ११६२, १६।
71. पृ. ३४०।
71A पृ. ४८३, २६।
72. पृ० ११६२, ४।
73. पृ. ३४४, ४।

निवास स्थान हृदय है, अत: 'दिल महि खोजि' क्योंकि कबीर को पूर्ण विश्वास है कि 'एही ठउर मुकामा।'[74] भक्त अनन्य भक्ति से उसे हृदय में अनुभव कर सकता है, क्योकि कबीर ने स्वत: ऐसा किया है। योगियो के लिए उसने 'अगम द्रुगम रचिश्रा' और यह दुर्ग है सहस्रदल कमल का। वहा निरन्तर प्रकाश रहता है, तथा वही अनहद नाद होता है, जिसके आनन्द को वहा पहुँचने वाला जीव ही अनुभव कर कर पाता है, लेकिन उसके रहस्य को शेषनाग तक नही समझ सकता। अन्यत्र स्थिति को और स्पष्ट हुए कहा है कि सहस्रदल कमल में ब्रह्मरध्र है, उसी में ब्रह्मरसामृत का 'सरवरु भरा' है जिसका पान करने में ही मानव-जीवन की सफलता है।[76] लौकिकों को भी कबीर ने पुकार २ कर कहा है कि 'तन महि हरि[77]" अत: उसे बाहर ढूढ़ने का सब प्रयत्न व्यर्थ है, अन्तर्मुखी बनो, उसे अंतर मे अनुभव कर उससे ऐक्य स्थापित कर जीवन को सार्थक करो। 'तनु करि मटुकी मन मांहि बिलोई' देह की मटकी मे मन को बिलोने पर ही गुरु की कृपा से जीव 'पावै अमृत धारा।'[78] 'पछिम अलह मुकामा'[79] मान कर बांग देने वाले मुल्ला को भी उसने ललकारा है 'साईं न बहरा होई' 'जा कारन तू बांग देहि' क्योंकि वह तो 'दिलहि भीतर होइ'[80] ब्रह्मानुभूति कर जब उससे ऐक्य ही स्थापित हो गया, तब पुन: कबीर

---

74. पृ. १३४६, १।
75. पृ ११६२, १६।
76. पृ. ६६६, ४।
77. पृ. ८७०, ३।
78. पृ. ४७८, १०।
79. पृ. १३४६, २।
80. श्लोक १८४।

को ब्रह्म की स्थिति के विषय में भ्रम हो गया वह अपने आपसे ही पूछता है कि 'पीउ महि जीउ बसै' अथवा 'जीउ महि बसै कि पीउ ।[81] कितनी मधुर, सरस और आह्लादक अवस्था है, अब तो ब्रह्म-स्थिति के ज्ञान की आवश्यकता ही नही रहती, क्योकि ब्रह्म-स्थिति का बोध जिस साध्य का साधन था, उसकी प्राप्ति के बाद साधन का महत्त्व ही क्या ?

जिस सर्व-व्यापक की स्थिति का कुछ आभास मिला है, उस अरुप के रूप की कल्पना भी कुछ कम मधुर और अनुपयुक्त न होगी। उसके विराट् रूप का कुछ अनुमान तो इसी से लग सकता है, कि 'रोमावलि कोटि अठारह भार।'[82] अठारह करोड़ पर्वत-शृंखलाए तो उसकी रोमावलि मात्र है और 'कोटि जग जाके दरबार।' अतः उसके इस विराट् रूप के अनुरूप ही करोडो इन्द्र 'जाके सेवा करहि' अनन्त ब्रह्मा उसके गुण गान में 'वेद उचरै' लेकिन इतना होते हुए भी वह ऐसा है 'जाके रेख न रूप[83]'। कितना अद्भुत विरोधाभास है, और है सत्य! क्योकि निर्गुण वह तो सगुण भी नही बनता, फिर साकार की तो बात ही कहां ? सर्व-व्यापक होता हुआ भी वह तो शून्य मण्डल है। सर्व-स्रष्टा भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में रमा हुआ है, लेकिन केवल 'सिभ्राम मूरति नाहि।' [84] अतः 'माटी एक भेख धरि नाना'[85] उसके रूप को न तो किसी सीमा में बांधा जा सकता है और न

---

81. श्लोक २३६।
82. पृ. ११६२, २०।
83. पृ. ८५७, १०।
84. पृ. ७२७, १।
85. ४८०, १७।

किसी आकार में ही रक्खा जा सकता है, या देखा जा सकता है। सम्पूर्ण प्रकृति में उसी के दर्शन होते हैं, लेकिन किसी एक स्थल पर उसके दर्शन नही होते। इतना ही नही 'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।' लौकिक रूप से रहित होते हुए भी सर्व-गुण सम्पन्न है और बिना किसी असुविधा के सभी कार्य कर लेता है। कुल मिला कर वह रूप, रंग और आकार से अतीत है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निर्गुण और सगुण से परे वह गुणातीत है।[87]

इससे कबीर के ब्रह्म का रूप स्पष्ट है, लेकिन उद्धरण स्वरूप अवतार राम याँ कृष्ण की झलक भी बहुत स्थानों पर मिलती है, इससे हम उसे अवतार में विश्वासी नही कह सकते। यह साहित्यिक परम्पराए और सामाजिक जीवन के लिए उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत स्थल हैं, अत. उनके आधार पर कबीर मे 'साकार ब्रह्म' के दर्शन करना भूल होगी। इतना ही नही, बहुत से स्थलो पर तो उन्होने 'बीठुल' 'पीताम्बर' 'राम' आदि शब्दों का प्रयोग भी निराकार के लिये ही किया है।[88] अपने 'राम' को 'दाशरथि' न कह कर उन्होने इस भ्रम का निवारण भी कर दिया है। उसके रूप के दर्शन और आख्यान में अपने आपको असमर्थ पाकर अन्त मे उसने कहा है कि न तो उसकी उपमा दी जा सकती है और न ही किसी से तुलना की जा सकती है। चर्म चक्षुओं से उसे देखा नही जा सकता, अन्य इन्द्रियों से उसका अनुमान नही लगाया जा सकता और बुद्धि

86 पृ. ६७२, ११।   87. पृ. ११६२, १६।

88. पृ ८५५, ३, पृ. ४७८, १३, पृ ३३५, ५५।

से भी उसे जाना नही जा सकता। ऐसा 'तत अनूप' जो है, वह तो केवल 'जोति सरूपी' है।[89] अतः उसकी सत्ता की तरह उसके रूप को भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है।

ब्रह्म का आत्मा से सम्बन्ध

'इह राम का अंसु' [90] यह आत्मा ब्रह्म का अंश है और इसकी उत्पत्ति भी उसी मे से हुई है। लेकिन विश्व मे आ जाने के बाद उसकी स्थिति उसी प्रकार की हो जाती है 'जस कागद पर मिटै न मंसु।' इससे स्पष्ट है कि इसका अपना अस्तित्व बन जाता है। लोक में निकटतम एवं उत्कृष्ट सम्बन्ध दाम्पत्य ही है, अतः कबीर आत्मा को सम्बोधित करके रहता है, कि 'जग जीवन प्रान अधारा' ब्रह्म को 'चेरी तू रामु न करसि भतारा।'[91] आत्मा को भी यह अनुभव करने मे देर नही लगती। आत्मा ने कबीर की सीख को स्वीकार किया और नव-वधू की भांति 'घू घट काढि गई।'[92] अपने पति के समीप यद्यपि हृदय से पति की महत्ता को पूर्णतया अनुभव कर लिया है, फिर भी उसे सन्देह बना हुआ है कि 'न जानउ किआ करसी पीउ'[93] क्योकि जीवन का यौवन तो उसे पहिचानने में ही व्यतीत हो गया, जो कि वास्तविक सयोग का समय था, लेकिन उसे अपने पति पर विश्वास है, कि वह उसे पूर्णतया अपना लेगा अपने विश्वास को सत्य पाकर वह आह्लाद

89. पृ. ३४४, ११।
90 पृ ८७१, ५।
91. पृ. ६५५, ५।
92. पृ ४८४, ३४।
93. पृ. ७६२, २।

में पुकार उठती है 'हरि मेरो पिउ हउ हरि की बहुरिया।'[94] पत्नी पति से धीरे धीरे घनिष्ठता बढाती चलती है, जब तक उनमें पूर्ण ऐक्य नहीं हो जाता। ऐक्य ऐसा जिसमे दोनो का अलग अस्तित्व किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह जावे। 'हरदी पीअरी चूना ऊजल'[95] दोनो मिलकर अरुण हो जाते हैं, दोनो के रग ही नही, रूप और गुण में भी परिवर्त्तन आ जाता है और इस प्रकार दोनो अपनी अलग सत्ता समाप्त कर नवीन रूप ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा ही प्रेम धन्य है, जिसमें त्याग हो—व्यक्तित्व का, अस्तित्व का। बहुरिया आत्मा की महत्ता इसी मे है, कि इस प्रकार वह अपना अस्तित्व पति मे ही विलीन कर दे। 'इहु अरु ओहु जब मिलै तब मिलन न जानै कोइ।'[96] इस मिलन को न कोई जान ही सकता है, क्योकि 'एक जोति एका मिलि'[97] यह तो एक ज्योति का दूसरी ज्योति में लीन होना है और उसका 'तेज तेजु समाना'[98] तेज महातेज में समाहित हो गया। इस प्रकार ब्रह्म से उद्‌भूत होकर लोक में विचरण करने वाली आत्मा—उसकी पत्नी बनकर उससे ऐसा ऐक्य विधान करती है, जो अनायास ही उसके अस्तित्व तक को उसी में विलीन कर देता है और वह सदा के लिए अपने उद्‌गम स्रोत मे जा मिलती है।

यह आत्मा ही देहधारी होने पर जीव का रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार जीव के दो अंश हैं—आत्मा और देह।

---

94. पृ ६६१, १। 95. श्लोक ५६, ५७।
96 पृ ३४२, ३८। 97. पृ. ३३५, ५५।
98. पृ ८५७, ११।

अभी हमने ऊपर देखा है, कि आत्मा का उद्भव-स्थल ब्रह्म है और उसने 'भूरि सकेलि कै पुरीआ बाधी देह'[99] थोड़ी-सी धूल सगृहीत कर उसकी जो पुडिया बाधी—उसी से मानव देह का निर्माण हुआ, जिसमे प्राण-तत्व का संचार होने पर वह जोव कहलाया। सर्व-व्यापक ऐसे जीव के भी 'घट घट' निवासी है, उसी से उसका महत्त्व बना हुआ है।[100] एकमात्र उत्पादक ब्रह्म ही तो जीव का स्वामी है, और जब तक जीव उसे पहिचान न ले, तब तक उसका इस संसार से छुटकारा सम्भव नहीं,[101] क्योकि—

'God known is no God and God realised is no more a God'

'तुम दाते हम सदा भिखारी' लौकिक जीव को जब अपनी सीमित सामर्थ्य और आपत्तियों का ध्यान आता है तथा अपने अभावो की पूर्ति के लिये उसे किसी सहायक की आवश्यकता अनुभव होती है, तब अनायास ही अपने सर्व-समर्थ, सर्व-दाता पिता के सम्मुख झोली फैला देता है। दु.सगति के कारण काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर आदि दुर्गुणो का शिकार जीव अपनी हीनता को अनुभव कर कहता है, 'गोविन्द हम ऐसे अपराधी' जिसने जन्म देने वाली की 'भाउ भगति नही साधी' और विश्व के सब दुर्गुण अर्जित कर लिए हैं, अतः हे भगवन ! कष्ट मे पड़े हुए अब अपने इस जन को 'राखहु' और अपराधी वह विश्वास दिलवाता है,

99. श्लोक १७८।
100. पृ. ३४४, ७।
101. पृ. ३४७, ८
1. पृ. ११६१, १५।

कि अब 'सेवा करउ तुम्हारी'।[2] भगवान् का वह अपराधी है और वह इसका रक्षक एव आश्रय-स्थल। इतना ही नही परिणाम स्वरुप वह भगवान का सेवक भी बन जाता है। उसके समीप रहने वाला सेवक ही धीरे धीरे उसके महात्म्य को अनुभव करता हुआ—भक्त बन बैठता है[3] यह भक्त उससे घनिष्ठ होता जाता है और ऐक्य सम्बन्ध स्थापित करने में प्रयत्न शील रहता है। ज्यो २ 'बाती सूखी' और 'तेलु निखूटा' त्यो २ देह का अत समीप आ गया और धीरे धीरे २ 'तूटी तन्तु न बजै रबानु।'[4] तब देह का पक्षी उडकर अपने आदि स्थान को चला जाता है। उससे सम्बन्ध जोड़ते ही जीव को इस जगत् में और कोई दृष्टिगोचर ही नही होता, वह कहता है 'हमारा को नही हम किसहू के नाहि।' इसी लिए जाती बार 'जिनि इहु रजनु रचाइआ तिस ही माहि समाहि।[5] 'नदी तरग' की तरह एक्य होगा और महा शून्य मे शून्य विलीन हो जावेगा, जिसका कुछ पता भी न लग सकेगा।[6] और पुनः कभी पुनरागमन भी न होगा। कबीर को इतने मात्र से सन्तोष नही, वह तो जीव की सत्ता को और भी महत्ता प्रदान करते हुए कहता है कि अनहद श्रवण करने के बाद एक 'अचरजु भइया' और वह आश्चर्य क्या था, कि 'जीव ते सीउ' जीव तो स्वयमेव शिव में परिणत हो गया।[7] इस ऐक्य के परिणाम-स्वरूप अनुभूति में भी परिवर्तन

---

2. पृ. ६७१, ८।
3. पृ. ३३१, ४२।
4. पृ. ४७८ ११।
5. श्लोक २१४।
6. पृ. ११०३, ४।
7. पृ. ३४४, १३।

आ गया। 'तब ओही ओहु एहु न होई।'[8] कि अब जीव की सत्ता ही न रह गई और सर्वत्र सर्व-व्यापक ही छा गया। अनुभूति का यह चरम ही तो मानव-जीवन का साध्य है, यही जीव के देहधारी होने की सार्थकता है।

ब्रह्म-कबीर सम्बन्ध

कबीर देहधारी जीव अवश्य थे, लेकिन अपनी अनुभूति के आधार पर ब्रह्म से उन्होने जो सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, वह प्रत्येज जीव का नही हो सकता। आत्मीयता ने उनकी अनुभूति को सशक्त अभिव्यक्ति देकर भी हृदयग्राही बना दिया है। 'मुई मेंरी माई' लौकिक मा के अभाव में उसने सम्पूर्ण स्नेह उस परम पिता से पाया था—इसीलिये कहा है—'हउ पूतु तेरा तूं बापू मेरा।'[9] उत्पादक पिता ही पालनहार, रक्षक व सत्गुरु के माध्यम से मार्ग-दर्शक रहा है। इसीलिये निःसकोच उससे अपराधो की क्षमा मागने चला आता है 'रामईआ हउ बालकु तेरा।'[10] कहते हुए अपनी दीनता प्रगटाता है। 'तुम समसरि नाही दइआलु मोहि समसरि पापी।'[11] उसके पश्चा-त्ताप से विगलित हृदय की करुण ध्वनि से उसकी विनयिता का भी परिचय मिलता है। इतना ही नहीं, पापी ने अपना पूरा परिचय दिया है 'जा का ठाकुरु तुही सारिंगधर मोहि

---

8. पृ. ३४३, ३३ 9. पृ. ४७६, ३।
10. पृ. ४७८, १२। 11. पृ. ८५६, ३।

कबीरा नाउ रे।'[12] लेकिन भगवान नही पसीजे, उनके द्वार पर तो सदा ही न जाने कितने पापियो की भीड़ जो लगी रहती है। कबीर ने उसके नाम को आधार बनाया था, अत: उसे चिंता नही और उसने स्पष्ट ही कहा है 'कहि कबीर गुलामु घर का जीआई भावै मारि।'[13] हद है आत्म-समर्पण की और भगवत्विश्वास की। सम्भवत: इसी लिए जिस हाथी के सम्मुख उसे कुचलने के लिए छोड़ा था, उसी ने आकर उसे नमस्कार किया था।[14] और जिस जंजीर से बांध कर उसे गगा में डूबने के लिए फैका था उस जजीर को ही गंगा ने तोड कर बहा दिया था।'[15] इन घटनाओ में भौतिक सत्य हो या न? लेकिन इनके अन्तर्हित प्राणवान् सत्य महान् है। भक्त के विश्वास मे अद्वितीय शक्ति है। कुत्ते की भाति कृतज्ञता प्रगटाते हुए उसने कहा हे 'मुतिआ मेरा नाउ' और 'गले हमारे जेवरी जह खीचै तह जाउ'[15] सेवक को सर्वतोभावेन स्वामी की सेवा करनी चाहिए—ऐसे उत्कृष्ट सेवक के ही गुण हमें कबीर में मिलते हैं। इतना ही नही, उसने अपने आपको पूर्णत: स्वामी पर निर्भर बना दिया है—'तू जलनिधि हउ जल का मीनु'[17] और इस रूप में वह सदा जल में रहता है, क्योंकि 'जलहि बिनु खीनु।' उसके पिजरे का वह तोता है, उसके वृक्ष पर रहने वाला वह पक्षी है, ऐसी अवस्था में यम-

---

12 पृ. ३३८, ६६।
13. पृ. ३३८,६६।
14. पृ. ८७०, ४।
15 पृ ११६२, १८।
16. श्लोक ७४।
17. पृ ३२३, २।

राज उसका बिगाड़ ही क्या सकता है। लेकिन भगवान् से यह सब सम्बन्ध स्थापित करके भी उसे सन्तोष नही होता—इसलिए कबीर की आत्मा पुकार उठती है—'गाउ गाउ री दुलहनी मगलाचार।' यह मगलाचार गाने की आवश्यकता क्यो हैं? क्योकि 'राम राइ सिउ भावरि लैहउ' और भंवरे लेकर 'आतम तिह रंग राती।' जब अपने आपको पूर्ण तया उसके रग में रग दिया, तब उसने अनुभव किया, कि 'मेरे गृह आये राजा राम भतारा।' उसके इस रूप को देखने के लिये असख्य 'सुरि नर मुनि जन' आये और उनके सामने ही कबीर कहते हैं, कि 'मोहि बिआहि चले हैं पुरख एक भगवाना।[18] 'हरि मोर पिउ' और कबीर 'हरि की बहुरिया' बन चुका है। 'राम बड़े मै तनक लहुरीआ' कह कर उसने अपने आप को उनसे थोडा सा छोटा स्वीकार किया है। यद्यपि 'एकै सगि' उनका 'बसेरा' है, फिर भी पत्नी-कबीर अनुभव करते हैं, कि उनका 'मिलनु दुहेरा'[19] मिलन कठिन है पति नाराज जो हो गये हैं। उन्हे पूछती है—'करवटु दे मोरउ काहे कउ मारे' क्यों इस प्रकार मुंह मोड कर तुम मुझे मारते हो? अपने पातिव्रत्य का पूर्ण विश्वास दिलवाते हुए कहती है—'जनु तनु धीरहि अगु न मोरउ' और मुझ पर कितनी ही विपत्ति क्यो न पड़े तो भी तुमसे 'प्रीति न तोरउ।' भगवान् की प्रियतमा बनने में जिस अनन्यता की आवश्यकता है, उसी के कारण तो उसने लोई का पति बनना अस्वीकार करते हुए उस से नाता तोड दिया है और भगवान् को विश्वास दिलवाया

---

18 पृ ४८२,२४।

19 पृ. ४८३, ३०।

'हम तुम बीचु भइओ नही कोई।' इसलिए 'तुमहि सुकत नारि हम सोई।'[20] पत्नी उसके इतना निकट आ गयी है कि वह तो सदा उसी के 'रंगि राती'[20A] और उसी के आनन्द में तल्लीन हो जाती है। धीरे २ उसने अपना महत्व और अस्तित्व ही समाप्त करने का प्रयत्न किया है—पूर्ण आत्म-समर्पण के माध्यम से 'तेरा तुझ कउ सउपते किआ लागै मेरा।'[21] उससे आत्मीयता स्थापित करने मे इससे कम अनन्यता सार्थक भी तो नही हो सकती। सिंधौरा (सती होते समय पति से सदा मिले रहने का चिह्न) जो हाथ मे ले लिया है तब उसे संसार की चिन्ता ही क्या ?[22] क्योकि उसने तो 'हरि भेटत आपु मिटाइया।'[23] इसो लिए तो 'जिस मरनै ते जगु डरै' उसी मृत्यु मे कबीर को आनन्द मिलता है क्योकि देह मुक्त होकर ही तो वह पूर्ण-ऐक्य का आनन्दोप-भोग कर सकता है। 'मरने ही ते पाइए पूरन् परमानन्दु।'[24] इस प्रकार उसने अपने प्राण-तन्तुओ से ऐसा मिला दिया, कि दोनो मे किसी भेद का पता ही नही लगता। 'ओरा गरि पानी भइआ'[20] और पानी में जा मिला, तो उसकी सत्ता का कोई चिह्न भी अवशिष्ट नही रहता, इसीलिये 'राम कबीरा एक भये हैं कोउ न सकै पछानी'[26] उनके इस ऐक्य का किसी को बोध भी नही हो सकता। किसी को तो क्या—यह ऐक्य

---

20. पृ ४८४, ३५। 20A ८५५, २।
21. श्लोक २०३। 22. श्लोक ७१।
23. पृ. ६५५, ६। 24. श्लोक २२।
25. श्लोक १७७। 26. पृ ६६९, ३।

इतना घनीभूत होजाता है, कि स्वतः उन्हें भी इसका ज्ञान नही हो पाता, इसी लिये तो वे कहते हे—'पीश्र महि जीउ बसै जीश्र महि बसै कि पीउ ।' तल्लीनता मे इतना खो गये, कि यही नही बोध होता कि यह हृदय है, जो भगवत्तल्लीन है अथवा भगवान ही हृदय मे आ वसे हैं इतना ही नही, इसका चरम तो वहां आता है, जहाँ वे कहते हैं कि 'घट महि जीउ कि पीउ'[27] हद्द हैं अनुभूति की और आत्मीयता की। और ऐसा हो भी क्यो न—क्योकि यह ब्रह्म अब उसके लिये कोई बाहर का तत्त्व नही है—वस्तुतः वह तो 'तू तू करता तू हुआ' अपने और पराये के भेद को उसने इतना अधिक मिटा दिया है, कि अपना अस्तित्व ही लुप्त करके वह स्वत. ही 'वह' बन गया है और अब उसे 'तू' ही 'तू' दृष्टिगोचर होता है। इसी को वेदो मे 'तत्त्वमसि' कहा गया है, जो सन्तो में 'सोऽहम्' के रूप मे अधिक प्रचलित हुआ था और आज तक भारत के बहुत से सन्त-सम्प्रदायों में उसका यह रूप 'गुरुमन्त्र' के रूप मे स्वीकार किया है। दार्शनिक शकर के तर्काधारित अद्वैत की ही सन्त कबीर ने अनुभूतिपरक व्याख्या प्रस्तुत की जो अधिक हृदयग्राही व प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई।

यद्यपि भक्त, सन्त और गुरु भी जीव कोटि के ही हैं, लेकिन अपने सदाचार तथा आन्तरिक गुणो के विकास से उन्होने अपने को उत्कृष्ट मानव बना लिया है और ब्रह्म

---

27. श्लोक २३६

28. श्लोक २०४ ।

से उनका अधिक सम्बन्ध घनिष्ठ व आत्मीयता पूर्ण हो जाता है। सर्पिणी माया से बच कर जीव जब ब्रह्मोन्मुख होता है और भजन द्वारा उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करता है, तब वह भक्त कोटि में आ जाता है। और कष्ट में पडे हुए ऐसे भक्त का रक्षक व उद्धारक ब्रह्म है।[29] प्रह्लाद आदि अन्यान्य भक्तों की रक्षा के लिये पहुँचने वाले भगवान् का वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है।[30] सर्वग्राही यम 'सभहू-लै जईहै'[31] लेकिन भक्त पर उसका कोई बस नही चलता। स्वत: ब्रह्मानुभूति कर जब भक्त लोक-कल्याण की भावना से मार्ग-प्रदर्शन का कार्य भी करने लगता है, तब वह सन्त अवस्था को प्राप्त करता है। जीव को भव-पार ले जाने में ऐसे सन्त का विशेष महत्त्व है, क्योकि उसकी सगति से ही जीव माया के आवरण से बच सकता है। अत: कबीर ने सेवा के दो ही अधिकारी बताए है— 'एकु सन्तु इकु रामु।' और इनमे भी अधिक उपादेय सन्त है, क्योकि 'रामु जुदाता मुकति को सन्तु जपावै नामु।'[32] मध्यकालीन सन्त को मोक्ष की आवश्यकता नही, उसे तो 'नाम' मे तल्लीन होना है, जो अपने आप मे मोक्ष से भी कही अधिक सुखदायी स्थिति है। ऐसे सन्त की निन्दा नही करनी चाहिए क्यो कि 'सन्त रामु है एकु।'[33] और गुरु— उसके बिना भगवत्प्राप्ति की तो बात ही दूर रही—भगवत् दर्शन भी सम्भव नही—क्योकि जीव और 'सतिगुरु' के मध्य

---

29. पृ. १२५३, ३। 30. पृ. ११६४, ४।

31. पृ. ८५५, १। 32. श्लोक १६४।

33. पृ. ७९३, ५।

'सत्गुरु' ही तो एक मात्र सेतु व साधन है और वह भी भी भगवत्कृपा के बिना प्राप्य नही।[34] उसके मिलने पर 'गुरपरसादी हरि धनु पाइआ।'[35] इसलिये वह न केवल ब्रह्म के समपद का ही अधिकारी है।[36] अपितु सन्तो का अनुभूति गत तर्क दार्शनिको के तर्क से कही से अधिक सशक्त, हृदय-ग्राही और प्रभावोत्पादक है—

गुरु गोबिन्द दोनों खडे, काके लागू पांव।
बलिहारी तिन गुरु की, जिन गोबिन्द दियो दिखाय।'

सो यह है गुरु और गोविन्द का महत्व व परस्पर सम्बन्ध। सम्पूर्ण सन्त साहित्य मे ही अलौकिक साध्य से लौकिक साधन का अधिक महत्त्व है, क्योंकि वह लभ्य है और क्रियात्मक दृष्टि से अनुकरणीय भी।

ब्रह्म और माया का सम्बन्ध

ब्रह्म ही माया का उत्पादक है, स्थिति में आते ही माया न केवल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भरमाना प्रारम्भ कर देती है।[37] अपितु वह तो ब्रह्म को ही अपना स्वामी भी बना लेना चाहती है 'जोइ खसमु है जाइया। पूति बापु खेलाइआ'।[38] लेकिन कर्त्ता उसकी खेल का पात्र नही बनता और वह सर्वथा माया निरपेक्ष रूप धारण किए रखता है, इतना ही नही उसका उत्पादक होकर भी उसमें ब्रह्म का अश नही—इस प्रकार माया भी ब्रह्म-निरपेक्ष है।[39] दोनो ही एक

34 ८७२, ७। 35. पृ ८७१, ६।
36. पृ. ३४५, ७। 37 श्लोक १०।
38 पृ ११६४, ३। 39 पृ. ३३४, ५२।

दूसरे से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, वस्तुत: इसी से दोनों की स्थिति है, क्योंकि माया-शबलित होकर ब्रह्म ब्रह्म नही रहता, और ब्रह्ममय होकर माया माया नही रहती।

ब्रह्म-सृष्टि का सम्बन्ध

आगे दिये गये सृष्टि के विराट् रूप का स्रष्टा ब्रह्म ही है। उसने प्रकाश का प्रसार किया, इस प्रकाश मे से ही सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् का विकास हुआ। और इस स्रष्टा की ही झलक उसके अणु-परमाणु मे मिलती है।[40] इस प्रकार दोनो का अन्योन्याश्रय घनिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट होता है, क्योंकि एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं और दूसरे के बिना प्रथम की शक्ति के विकास का क्या परिचय। इतना होते हुए भी सृष्टि ब्रह्म की तरह अनश्वर और अनंत नही, अपितु परिवर्तनशील वह नश्वर और सात है।[41] लेकिन दार्शनिक शकर के विचार की तरह उसकी कोई सत्ता ही न हो, ऐसी बात नही, वह यथार्थ है, केवल भ्रममात्र नही।

---

40. पृ १३४६, ३।

41 पृ. ३४०, ७५।

—४—

सृष्टि

'ओइ जु दीसहि अंबरि तारे।
किनि ओइ चीते चीतन हारे'।[42]

तारो से भरे आकाश को देख कर कबीर की जिज्ञासा साकार हुई, कि इनका चितेरा कौन है? अन्त:करण को टटोला तो पता चला कि 'सारी सिरजनहार की जानै नाही कोइ।'[43] समस्या उलझ गई, सुलझाने के प्रयत्न में जीव को आभास मिला—'उआ का मरमु ओही परु जानै।'[44] भक्त और निकट पहुँचा तो उसे लगा कि 'कै जानै आपन धनी' अथवा कै दासु दीवानी होइ।' भक्त का आत्म-विश्वास बढ़ा और उसने अनुभव करना आरम्भ किया—'सभ महि पसरिया ब्रह्म पसारा।'[45] यह सृष्टि तो और कुछ नही, उसी का प्रसार मात्र है। यह प्रसार कैसे हुआ, इसके क्रमिक विकास की भी अपनी एक कहानी है—'अवलि अलह नूर उपाइआ' सर्व प्रथम स्रष्टा ने प्रकाश को प्रसारित किया और उस 'एक नूर

---

42. पृ. ३१६, २६।
43. श्लोक १७६।
44. पृ. ३३४, ५२।
45. पृ. ३२६, २६।

दे सभु जगु उपजिआ।'[46] उसमें भी सूर्य और चांद के उदय होने के साथ ही साथ 'उदै भई सभ देह।'[47] विश्व में प्राण तत्त्व का संचार हुआ और वनस्पति, प्राणी तथा जीव में इसका क्रमशः विकास हुआ। प्रायः सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में सृष्टि-रचना-क्रम का यही विकास देखने को मिलता है।

'खालिकु खलक खलक महि खालकु पूरि रहिओ सब ठाईं'।[48]

सम्पूर्ण ब्रह्मांड उसी का प्रसार है, अतः सम्पूर्ण ब्रह्मांड में उसकी स्थिति है। रचना के लिये उसे किसी बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं और 'एक माटी अनेक भांति करि साजी साजनहारे' एक ही मिट्टी को विभिन्न रूप प्रदान कर उसने अखिल विश्व का निर्माण किया है और एक मात्र सत्य वही सब में है तथा उसी के नियन्त्रण में सृष्टि ससरण कर रही है, क्योंकि 'तिसु का कीआ सभु कछु होई।' लेकिन कर्त्ता की कर्तृत्व-शक्ति का परिचय किसी को नहीं मिल पाता। 'बावन अछर लोक त्रै सभु कछु इनही माहि' सम्पूर्ण सृष्टि तो इन बावन अक्षरो में ही सीमित है, 'ए अखर खिरि जाहिगे' यह अक्षर और इनसे निर्मित सृष्टि नष्ट हो जावेगी, लेकिन इनका निर्माता नही।[49] 'धरनि अकास को करगह बनाई' तथा सूर्य, चन्द्र की ढरकियों के सहारे कोरी ने ब्रह्मांड रूपी वस्त्र का वितान तना है, जिस रहस्य को कोई नही जानता, केवल 'जोलाहे घरु अपना चीन्हा' और विश्व जुलाहे के सूत में उसने अपना सूत मिलाकर उससे पूर्ण ऐक्य स्थापित कर

---

46. पृ. १३४६, ६। 47. श्लोक १७६।
48. पृ. १३४६, ३। 49. पृ. ३४०, १।

लिया है।[50] चितेरे ने जिस महान् चित्र को अंकित किया है, वह 'चित्र बचित्र इहै अवझरा' तो उलझाने वाला चित्र है, अतः उसे छोड़ चितेरे में चित्त लगाओ।[51] और उलझाने वाली यह सृष्टि स्थिर भी तो नही—क्योकि 'नैनन देखत इहु जगु जाई'।[52] अतः सांसारिक सम्पत्ति से मोह करने वाली लोई को समझाया है—'जइ उपजै बिनसै तहि जैसे पुरबिन पात।'[53] नश्वर जगत् मे कुछ स्वच्छ भी तो नहीं ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि के साथ ही साथ 'मैला मलता इहु संसारु।'[54] अपवित्र यह जगत् 'काजल की कोठरि' है, और 'अधे परे तिस माहि'[55] फिर निकलने का मार्ग ही कहां सम्भव है? उसने स्पष्ट ही जीव को सतर्क किया है, कि 'इक राम नाम बिनु इआ जगु माइआ धंधा।'[56] इस पीहर में उसे रहना भी तो केवल चार दिन है, अतः भगवत्भजन में ही जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।[57]

आखिर यह संसार है क्या? 'पचै तत बिसथार।'[58]. अतः लौकिक सम्पत्ति के कारण अपने आपको गौरवशील न समझना चाहिए, क्योंकि 'चन्दु सूरजु जाके तपत रसोई' और 'बैसंतरु जाके कपरे धोई' आज 'तिह रावन घर दीया न

50 पृ. 484, 36।
51. पृ. ३४०, १२।
52. पृ. ३२५, ११।
53. पृ. ८५७, १०।
54. पृ. ११५८, ३।
55. श्लोक २६।
56. पृ ३३८, ६७।
57. पृ ३३३, ५०।
58. पृ. २४३, ६।

बाती'।[59] इतना ही नही, जिसके पास रक्षा के लिए 'लंका सा कोटु समुद सी खाई' थी, यम के आने की तो 'तिह रावन घर खबरि न पाई।' अतः न केवल सांसारिक सम्पत्ति का अपितु 'धन जोबन का गरबु न कीजै' क्योंकि यह सब तो 'कागद जीउ गलि जाहिगा।'[60] ऐसी अवस्था में दुष्कर्मों द्वारा अर्जित धन को संचित करने का क्या लाभ ? क्योंकि 'नांगे आवनु नागे जाना'[61] इस लिए क्षणिक जीवन और नश्वर संसार में लौकिक सम्पत्ति का मोह और सचय त्याग कर 'राम नाम धनु करि सचउनी सो धनु कतही न जावै।'[62] 'नाम' धन अर्जित करो जो कि वास्तविक सम्पत्ति है।

जीवात्मा

'कहु कबीर इहु राम का अंसु।'[63]

आत्मा परमात्मा का अंश है और देहधारी होने पर यही जीव का रूप ग्रहण कर लेती है। 'उपजो पेड ते'[64] परमात्म-वृक्ष से उत्पन्न होकर यह प्राणी-जगत् में विचरण करती है और फिर 'परमेसुर परम हंसु ले सिधाना।'[65] तो जीव ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा 'बजावन हारो कहा गइओ।' देह के अंग और इन्द्रियों के साधन तो वैसे ही प्रतीत होते हैं, लेकिन अब 'मुखहु न निकसै बाता।' इसी का उत्तर दिया है कि—

---

59. पृ. ४८१, २१।
60 पृ. ११०६, ११।
61. पृ. ११५७, २
62. पृ. ३३६, ५८।
63. पृ. ८६१, ५।
64. श्लोक १५३।
65. पृ. ४८०, १८।

'इह तउ बसतु गुपाल की जब भावै लेइ खसि।'[66]
यह तो उसी की सम्पत्ति है, जब चाहे ले जावे। 'इआ मन्दिर महि कौन बसाई' आखिर इस देह-मन्दिर में बसने वाला यह कौन है ? दार्शनिकों के ब्रह्म का 'नेति' स्वरूप प्रसिद्ध है। आत्मा के विषय में कबीर ने उसी शैली का अनुसरण करते हुए लिखा है–'ना इहु मानसु ना इहु देउ' न राजा, न भिखारी, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय तथा 'ना इसु भाई न राहू पूता।' क्योंकि 'ना इहु जीवै न मरता देखा।' इस प्रकार 'ता का अंतु न कोऊ पाई।'[67] लेकिन 'गुर प्रसादि मैं डगरो पाइआ' वह डगर यही है कि यह 'राम का अंसु' है। और इसकी स्थिति व सत्ता वैसी है 'जस कागद पर मिटै न मसु।'[68] षटनेम करने वाले योगी ने 'बसतु अनूपु बीच पाई' इस अनुपम वस्तु के चले जाने पर न देह रहा और न देहधारी जीव। सम्भवतः इसी लिए जिज्ञासु जीव ने प्रश्न किया—
'कवनु काजि जगु उँपजै बिनसै कहहु मोहि समुझाइआ।'[69]
बौद्धिक तर्क की कसौटी पर इसका उत्तर जचे या न, लेकिन कबीर की अनुभूति इस प्रकार हुई—

'जिउ प्रतिबिंबु बिम्ब कउ मिली हैं उदक कुम्भु बिगराना।
कहु कबीर ऐसा गुण भ्रमु भागा तउ मनु सुनि समाना।।'[70]

देह के नष्ट होने पर जलवत् जल में अथवा शून्य में समा जाना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। सम्भवतः इसीलिये 'इस देही कउ सिमरहि देव।'[71] इससे देह का महत्त्व स्पष्ट

---

66. श्लोक ७६।
67. पृ. ८७१, ५।
68. पृ. ३३६, ७३।
69. पृ. ४६५, १।
70. पृ. ४७५, १।
71. पृ. ११५६, ६।

है। इस देह में निवास करने वाला 'जीव एक अरु सगल सरीरा'[72] जीव तो एक ही है, लेकिन उसे धारण करने वाले देह अनन्त हैं। और मानव रूप में आने से पूर्व सृष्टि की रचना प्रक्रिया में जीव ने 'असथावर जगम कीट पतगा। अनिक जनम किए बहु रगा।'[73] अन्यान्य रूप धारण किये थे। मानव-जीवन के विकास-क्रम में यह है भी स्वाभाविक। यह संसार, इसी स्थूल से सूक्ष्म के विकास के इतिहास की कहानी है।

वेदानुयायियों ने ब्रह्म को जानने का प्रथम सोपान बताया था 'आत्मानं विद्धि।' उनकी भाषा अधिक दार्शनिक थी और कबीर की उक्तिया हैं अनुभूत्याधारित। बात उन्होंने भी लगभग वही कही है—'आपु पछानै त एकै जानै।'[74] उसके जानने का साधन अपने आप को पहिचानना है। जिसने अपने को पहिचान लिया, उसे 'रोगु न बिआपै तीनै ताप।'[75] त्रिविध भय के नाश होने पर जीव अन्तःकरण में ही उसे अनुभव करने लग जाता है। तब सासारिक सम्पत्ति और सम्बन्धियों को त्याग कर संसार से उदास होकर जीव का 'हंसु इकेला जाई।'[76] क्योंकि ससार से सब सम्बन्ध तो झूठे हैं। यह दुर्गुणी जीव तो कर्म करने में भी स्वतन्त्र नही, क्योंकि उसके चित्त की बात नही होती, होता वही है, जो 'हरि करैं।'[77] अतः उसे सत्कर्म करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए और अपने कार्य को कल पर न छोड़ कर 'कालि करता अबहि

72. पृ. ३३०, ३६। 73. पृ. ३२५, १३।
574. पृ. ८५, २। 75. पृ. ३२६, १७।
76. पृ. ११२४, ६। 77. श्लोक २१९।

करु अब करंता सु इताल।'[78] यथाशीघ्र करते हुए जीवन में आगे बढ़ते रहना चाहिए। 'माटी के हम पूतरे'[79] 'गुलामु घर' के हैं.[80] अतः क्षणिक जीवन का सदुपयोग करने में ही हमारी भलाई है। क्योंकि जीव तो संसार-समुद्र की वह मछली है, जो उससे उत्पन्न होकर-मायालिप्त होने के कारण संसार में रमण करते हुए पुनः गुरु-कृपा से माया-निर्लिप्त हो उसी में जा मिलती है—'जाहि के संग ते बोकुरा ताहि के सग लागु।'[81] यह है जीव की स्थिति।

जीव के स्वरूप निरूपण के बाद आत्मा के आवरण देह के रूप पर विचार करना भी आवश्यक है। जिस प्रकार प्राण-तत्त्व के बिना देह व्यर्थ है, उसी प्रकार देह का महत्त्व तो इतने मात्र से स्पष्ट है, कि उसकी प्राप्ति के लिये 'सुमिरहि मुनि जन सेव' क्योंकि उसके बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं।'[82] यह देह क्या है? 'पानी मैला माटी गोरी इस माटी की पुतरी जोरि।'[83] यह कार्य भगवान ने किया है। उसने गड्ढे से थोड़ी सी मिट्टी उठाई और विश्व के साथ साथ मानव-देह का भी निर्माण कर दिया है।[84] कहीं इसे 'धूरि सकेलि कै पुरिआ बांधी'[85] कहा है, तो कहीं 'जल भरी गागरी'[86] बताया है। यह जर्जर बेड़ा[87] वस्त्रों की तरह नष्ट

---

78. श्लोक १३८।
79. श्लोक ६४।
80. पृ. ३३८, ६६।
81. श्लोक १२६।
82. पृ. ११५६, ६।
83. पृ. ३३६, ६०।
84. श्लोक २२७।
85. श्लोक १७८।
86. श्लोक ७३।
87. श्लोक ३५।

हो जावेगा क्योंकि 'सो तनु जलै काठ के सगा ।'[88] और यह ऐसे जलेगा—'हाड जरे जिउ लाकरी केस जरे जिउ घास ।'[89] प्रातः कालीन तारो तथा साप की केचुली के समान इसे क्षणिक व नश्वर बताया है ।[90] इस देह पर गर्व करने वालो को समझाया है, कि 'असति चरम बिसटा के मूँदे दुरगध ही के बंढे'[91] यह तो दुर्गंध-पूर्ण अस्थियो का चर्ममय आवरण है । अतः इस पर गर्व किए बिना ही इसका सदुपयोग करो—क्योकि 'मानसु जनमु दुलभु है'[92] और यह बार बार नहीं मिलता ।

जीवन

'इस देही कउ सिमरहि देव' देह के माध्यम से मानव-जीवन के लिप्सु मनुष्य ही नही, देवता भी हैं । इतने से ही जीवन का महत्त्व स्पष्ट है और इसको प्राप्ति आसान भी तो नही, लेकिन उसका साधन है 'गुर सेवा ते भगति कमाई,' तब 'इह मानस देही पाई ।'[93] पथ-प्रदर्शक गुरु की सेवा कर भक्ति के माध्यम से जिस मानव जीवन को पाया है, उसे व्यर्थ गँवा देना बुद्धिमत्ता नही । जग-जीवन को स्वप्न जैसा बताते हुए उसने कहा 'जीवनु सुपन समान'[94] स्वप्न-तुल्य इसलिए कहा है कि मानव 'कनक कामिनि लागि' इसे नष्ट न कर दे और उसके महत्त्व को समझे, क्योकि 'जग जीवनु एसा दुतीय नही कोई ।' यह अनुपम है, लेकिन अनुपम, होते हुए भी क्षणिक ही

88 पृ. ३२५, ११ ।
89. श्लोक ३६ ।
90. श्लोक ४० ।
91. पृ. ११२४, ४ ।
92 श्लोक ३० ।
93 पृ. ११५६६, ६ ।
94. पृ ४८२, २७ ।

है, अतः जीवन भर भटकना उचित नही, इसी से उसका उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया है—

'भजहु गोबिन्द भूली मत जाहु ।
मानस जनम का एही लाहु ॥'[95]

जीवन को दस दिन और चार दिन का भी न बता कर केवल रात भर का कहा है, क्योकि प्रातः तो यमराज प्रतीक्षा कर रहा है ।[96] जिस जीव की 'रैन गई' (युवावस्था व्यर्थ बीत गई) उसे कहा है कि ध्यान रक्खो 'मत दिनु भी जाइ' नही तो वृद्धावस्था में बालो के पक जाने पर जीवन से बेडा कैसे पार होगा ?[97] अतः समय और जीवन को बेकार न गवाओ, हीरे की भांति 'अमोलु जनमु है' इसे 'कउडी बदलै हारिओ रे ।'[98] कबीर कल्पना की ऊंची उड़ाने लेने वाले दार्शनिक न थे, अपितु जीवन के यथा-तथ्य अनुभवों को प्रस्तुत करना उन्होने अपना ध्येय रक्खा था ।

इसीलिए भगवान् से भी उन्होने कह दिया—'भूखे भगति न कीजै । यह माला अपनी लीजै ॥'[99] उसे तो आध्यात्मिक जीवन को भौतिक जीवन का ही सहज विकास बनाना था—दोनो मे ऐक्य स्थापित करना था । उसका धर्म केवल उच्च-वर्गीय व्यक्तियो के लिए अथवा बौद्धिक चिन्तको के लिए न था, अपितु मानवीय धरातल पर वह जन-सामान्य के लिए था । इसीलिए देह को बनाए रखने के लिए भगवान् से यह

---

95. ११५६, ६ ।
96. पृ. ७६२, २ ।
97. पृ. ७६२, २ ।
98. पृ. ३३५, ५६ ।
99 पृ. ६५६, ११ ।

सब मांगते हुये भी झिझके नहीं—

'दुइ सेर मागउ चूना
पाउ घोउ सगि लूना ।'[100]

इस प्रकार सांसारिक जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं का अभाव उन्हें भी अखरता था, लेकिन उनके प्रति आसक्ति न थी। वे 'पद्मपत्रमिवाम्भसः' (पानी में अलिप्त कमल पत्र की तरह) जीवन को महत्त्व देते थे।

सांसारिक सम्बन्ध

'हंसु इकेला जाइ'
और 'सगि न कछु लै जाइ ॥'[1]

जीव को जीवन गत सत्य से परिचित करवा दिया, कि यह हंस (आत्मा) तो अकेला ही जावेगा। और इस संसार में—'कवनु को पूतु पिता को का को। कौन मरे को देइ सन्तापो ॥' तथा 'कउन को पुरखु कउन की नारी। इआ तत लेहु सरीर बिचारी।'[2] पिता पुत्र की तो बात ही क्या? सांसारिक घनिष्ठतम सम्बन्ध नारी के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सम्बन्ध तो केवल कहने मात्र के हैं, इससे कुछ आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि 'इआ धन जोबन अरु सुत दारा' अवसर आने पर यह सब साथ देने वाले नहीं'[3] अतः जीव को इन सब के पालन-पोषण में ही जीवन नहीं बिता देना चाहिए[4]

100. पृ ६५६, ११।
1. पृ. ११२४, ६।
2. पृ. ३३१, ३६।
3. पृ. ३३६, ५६।
4 पृ. ७६२, १४।

और न ही इनके मोह में फंसे रहना चाहिए।[5] 'कनिक कामनी महासद्दुरि' यह समझ कर जिसने 'रामु बिसारिओ है अभिमानि।'[6] सुन्दर-स्त्री के घमण्ड में राम को भुलाने वाले को उसने बताया है, यह सब तो सांप की तरह के भयंकर साथी है, अतः इनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जिस रावण के इकु लखु पूत सवा लख नाती' थे[7], अवसर पड़ने पर एक का भी पता नही लगा।' जीव को यदि इतने पर भी विश्वास नही, तो देख ले, कि 'देहुरी लउ बरी सग' तथा 'मरघट लउ सभु लोगु कुटुम्ब भइओ आगै हसु अकेला।' इतना ही नहीं, घट फूटे कोऊ बात न पूछै काढहु काढहु होई॥'[8] मां बेचारी दहलीज पर रोती रह गई और भाई उसे उठा कर ले गए। उसने सभी सम्बन्धो और सम्बन्धियों को देख लिया है, कोई किसी का नहीं — 'कोई काहू को नहीं सभ देखो ठोक बजाई।'[9] और फिर लौकिकों के मोह में फंसने वाले से तो भगवान् भी प्रेम नहीं करते, अतः इन सम्बन्धियों में फसे रहना कहा तक उचित है? अत: सासारिक कर्तव्यो का पालन करते हुए जीवन गत एक मात्र सत्य भगवत्प्रेम को नही भूलना चाहिए।

योनि भ्रमण

सांसारिक सम्बन्धो के मोह में फंसा रहने के कारण जीव इस आवागमन के चक्कर से नही छूट पाता। गत जीवन में भगवत्नाम का स्मरण न करने के कारण ही इस

---

5 पृ ८५५, १।
6. पृ. ११७४, ५।
7 पृ ४८१, २१।
8. पृ. ४७७, ६।
9. श्लोक ११३।

योनि में आना पड़ा।[10] माया के बस मे पडा हुआ जीव इस योनि-भ्रमण से नही निकल पाता।[11] गुरु कृपा से प्राप्त 'नाम' के सहारे ही वह इस योनि के चक्कर से निकल कर निरंजन की तरह 'अयोनि' हो सकता है,[12] क्योकि जीव भी तो 'अपना किआ पावै सोई।[13]

गुरु

जीवात्मा को परमात्मा की उत्कृष्टतम देन है सतगुरु। वह गुरु तो उस तक पहुँचाने में सहायक है। गुण और कार्य की दृष्टि से कबीर ही नही, अपितु सम्पूर्ण मध्यकालीन सन्तों का गुरु सगुण भक्तों के अवतारों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इतना होते हुए भी वह है जीव ही, केवल एक उत्कृष्ट कोटि का जीव। अतः उसके स्वरूप, गुण एव कार्य पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

'कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ। जाका नाउ विवेकु॥'[14]

कबीर ने तो विवेक को ही गुरु बताया है। वास्तव में विवेक शील वह व्यक्ति ही गुरु है, जिसने पांचो इन्द्रियो तथा मन को बस में कर लिया है तथा ब्रह्म को पहिचान लिया है।[15] पहिचान नहीं लिया, अपितु 'तासु मद माना' हो गया है।[16] एक मात्र सच्चे गुरु के अतिरिक्त और कोई उसे पहिचान भी तो नही सकता। और 'बिनु सतिगुर बाट न

---

10. पृ ३३६, ५६। 11. पृ. ६५५, ५।
12 पृ ३३८, ७०। 13. पृ. ११६१, १५।
14. पृ. ७६३, ५। 15. पृ. ८७२, १०।
16. पृ. ६६६, २।

पाई।[17]' अतः उसे प्राप्त करना आवश्यक है और उसका साधन भी एक ही है, भगवान् 'जब हुए क्रिपाल मिले गुरुदेउ ।[18] भगवान् को कृपालु बनाने के लिए आवश्यक है, कि मनुष्य सत्कर्म करे।[19] उन्ही सत्कर्मो से वह भगवत्कृपा का पात्र बन सकता है, और उसी से 'शब्द' देने वाले सत्गुरु मिल सकेंगे,[20] जिससे ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगा।

इस प्रकार गुरु की दीक्षा से शिष्य जागता है, और जाग कर 'गुर परसादी हरि धनु पाइयो।'[21] इस हरि-धन के द्वारा ही गुरु जीव का उद्धार करता है। उद्धार करने का भी एक क्रम विशेष है। सब से पहले गुरु सांसारिक-भ्रम का नाश करता है, जिसका साधन है जीव की वासनाओ का नाश।[22] गुरु 'शब्द' देता है, जिस शब्द की सहायता से जोव इन्द्रियो को वश में करता है[23] और इन इन्द्रियो के साथ ही साथ मन को भी बस मे कर लेता है, क्योकि विकृत मन ही तो देह-गढ का राजा है।[24] उसे बस में करने से ही तो 'गुर प्रसादी जैदेव नामा। भगति कै प्रेमि इनही है जाना॥'[25] इन भक्तो ने भी भक्ति के महत्त्व को समझा। वह भक्ति जो हृदय में गुरु का शब्द स्थिर करने से उत्पन्न हुई थी। यम से रक्षा करते हुए ऐसे भक्त को गुरु भव-पार पहुँचा देता है। और 'गुरु सेवा ते

17. पृ ११६४, ३।
18. पृ ८७१, ७।
19. पृ. ११०३, ४।
20. पृ १०४, ८।
21. पृ. ४७६ १५।
22. पृ. ६७१, १०।
23. पृ ११६, १४।
24. पृ ११६१, १७।
25. पृ ३३०, ३६।

भगति कमाई।[16] इसीलिए तो सम्पूर्ण सन्त साहित्य में गुरु-सेवा का विशेष महत्त्व है। एक मात्र सत्य-मार्ग का दर्शन कराने वाले गुरु की शरण में जाना चाहिए।[17] और वह भी ऐसा हो, कि 'सो गुरु करहु जि बहुरि न करना।'[18] ऐसे गुरु की कृपा से ही तो 'अमोल दासु करि लीनो अपना।'[19] उसने जब अपना दास ही बना लिया, तब उसमें लौ का लगे रहना स्वाभाविक ही है।[20] गुरु शब्द के माध्यम से ही यह लौ लगती है, जिससे स्वतः गुरु ने ही हरि के रहस्य को जाना है।[21] इसके लिए 'कलालनि' गुरु शबदु गुडु कीनु रे।' और उससे 'त्रिसना, कामु मद मतसर काटि काटि कसु दीनु रे।'[22] सभी दुर्गुणों का नाश किया। इस प्रकार दुर्गुणो का नाश कर मन को वश में कर उससे अमृत की धार बही, जिससे 'अमरु होई सोई।[23]

ब्रह्म-स्नेही बनते ही गुरु ने सब निराशाओं को आशाओं में बदल दिया, क्योंकि जीव एक बार सत्गुरु से दीक्षित होकर लौकिक तो क्या, पारलौकिक दुःखो से भी बच कर अमर हो जाता है।[24] और फिर माया ऐसे जीव का क्या बिगाड सकती है, क्योंकि वह तो स्वय ही गुरु की मार से 'डरैं'।[25] क्योंकि अवसर पाते ही गुरु ने तो 'तीनि लोक की

---

16. पृ. ११४६, ६।
17. पृ ३३६, ५६।
18. पृ. ३२७, १८।
19. पृ. ३३१, ४०।
20. पृ ४, १।
21. पृ. ६४४, १।
22. पृ ६६८, १।
23 पृ ३२७, २०।
24. पृ ८७२, ६।
25. पृ ८७१, ७।

महत्व भी कम नही, गुरु जहा केवल शिष्यो का ही उद्धार करता है वहा सन्त जन सामान्य को भी सतर्क करता रहता है, गुरु शरणागतों का उद्धारक है तो सन्त मानव मात्र का कल्याणकारी और इसी लिये कबीर ने सेवा योग्य केवल दो ही बताये हैं राम और सन्त और उसमे भी महत्व सन्त का है क्योकि 'रामु जु दाता मुक्ति को' लेकिन नाम का जप करवाने वाला सन्त तो स्वतः राम को ही मिला देता है[34] वह तो हरि के नाम के बिम्रापारी[35] है। सारग्राही वह जीवन से जूझने की शक्ति भी रखता है। निष्काम कर्मण्य जीवन का सन्देश वह वैयक्तिक क्रियात्मक जीवन से देता है। वह तो ऐसा चन्दन का बिरबा[36] है जो सांप से बिना प्रभाबित हुए ही सुगन्धि का प्रसार करता रहता है 'हरि हरि नामु जपात' वह तो 'सदा थिरु' रहता है,[37] रामामृत का पान कर के वह तो अमर हो चुका है और सच पूछो तो ब्रह्म का निवास 'सतन रिदै मझारि'[38] ही तो है इसी लिये तो सारे जगत को प्रभावित करने वाली माया जो 'जगत पिम्रारी' तथा 'सगले जीम्र जंत की नारी' बनी हुई है सन्तों को समीप देखते ही 'ठिठकी फिरै बिचारी'[39] जिस के बन्धनो, जाल से सारा ससार भयभीत होकर, बेबस होकर म्राकुल हो भागता है वह स्वत· ही सन्तो के डर से भागती फिरती है। म्रद्भुत है विधि की विडम्बना और संत की महिमा। यम से न डरने वाले सत की मृत्यु पर भी रोने की म्रावश्यकता नही, क्योकि वह तो म्रपुने

---

34. श्लोक १६४। 35 पृ ११२३, २।
36. श्लोक। 37 पृ १२५?,।
88. पृ. ३३७, ६३। 39. पृ. ८७१, ७

ग्रिहि जाउ'[40]। वह तो भगवान से मिलने अपने घर चला गया है। उस प्रकार जीवकोटि मे से ब्रह्म के सब से अधिक निकट सन्त ही हैं।

भक्त

सन्त तो संसार को भवसागर से पार पहुँचाने में प्रयत्नशील है लेकिन भक्त अपनी भक्ति में ही तल्लीन है। उनकी अनवरत, अनन्य एव एकाग्र भक्ति उनका साधन भी है और साध्य भी। इसी लिये तो उसका आदर केवल ससार ही नही परलोक में भी होता है। 'छत्र-पति की नारि" से 'हरिजन की पनिहारि'[41] का सदा ही मूल्य ज्यादा रहा है। ब्रह्मा तक को विचलित कर देने वाली माया भी भक्त को सन्मुख देख स्वय को असमर्थ पाती है। जिस ने एक बार 'राम उदकु पीआ' अब उसे 'बहुरि न भई पिआस'[42] वस्तुत. विश्व का सब से सौभाग्यशाली प्राणी भक्त है। क्योकि उसी की भक्ति से निर्गुण सगुण बन कर अवतरित होता है और वह भक्तों के बन्धन को तोड कर उनका उद्धार करता है। नामदेव के सन्मुख उसी भगवान ने 'मेरी बाधी भगतु छुड़ावै बांधे भगतु न छूटै मोहि '[43] कह कर अपनी असमर्थता प्रगट की है कि भक्त का बाधा हुआ तो भगवान भी नही छूट सकता। इसी लिये कबीर ने कहा है कि 'रामभगति बैठे घरि आइआ'[44]। कि वह तो स्वत: ही भक्त के घर चला आता है। इसी से भक्त और उस की भक्ति का महत्व स्पष्ट है।

---

40. श्लोक १६
41. श्लोक १५६।
42. पृ. ११०३, ३
43. पृ. १२५२, नाम ३
44. पृ. ३२७, १६।

—५—

कबीर का साध्य

जीवन का मर्मज्ञ कबीर अद्वैतवादी शंकर की भाति ज्ञान का वह उपदेश देना नही चाहता जिसे सामान्य व्यक्ति न समझ सके और न अपना ही सके। इसी लिये यद्यपि शकर का अद्वैत बौद्धिको के मस्तिष्क के लिये पर्याप्त चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत कर सका, विद्वानो मे सम्मानित भी हुआ, लेकिन जनता का धर्म कभी न बन सका। उसके विरुद्ध कबीर के सिद्धान्त अनुभूति आधारित होने के कारण तथा क्रियात्मक रूप से अपना प्रादुर्भाव पाने के कारण , जीवन के माध्यम से अपना विकास पाने के कारण. सामान्य जन-मन को प्रभावित करने वाले सिद्ध हुए। इसी का प्रभाव है कि कबीर पथ के संकुचित सम्प्रदाय के बाहर भी सभी सन्तमत उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर विकसित एवं प्रसारित हुए हैं। मूलत. यही वह पुरातन मानव धर्म है, जिस का स्थान ससार के सभी धर्मो मे अक्षुण्ण बना हुआ है। दृष्टि भेद सिद्धान्त परिज्ञान में परिवर्तन नही लाता, इसी लिये गत हज़ार वर्षो मे कबीर जैसा उग्र होते हुए भी प्रिय व्यक्तित्व भारतीय क्षितिज पर पर देखने को नही मिलता। उनका साध्य शकर के अह-

ब्रह्म से प्रारम्भ न होकर भी जीव के ब्रह्म से ऐक्य मे ही समाप्त अवश्य होता है। उस ऐक्य साध्य तक पहुँचने के बहुत से साधन भी अपने आप में साध्य प्रतीत होते हैं, यही कारण है कि उनका स्वाभाविक विकास क्रम हमे अपनी ओर आकर्षित ही नही करता अपितु विशेष रूप से प्रभावित भी करता है। जिन्हो ने कबीर की वाणी में—विचारधारा में सम्बद्धता स्थापित करने का प्रयत्न नही किया और अक्खड़ अपढ़ आदि विशेषणो से सुशोभित किया उन्हें यदि उसके साध्य और साधनो में सम्बद्धता न दिखाई दे तो हम अबोध कबीर को दोषी नही ठहरा सकते। उस के साध्य साधन क्रम को सम्बद्ध रूप देने का ही यह एक प्रयत्न है।

उन का कथन है कि सर्व प्रथम जीव को अपने जीवन का उद्देश्य एकमात्र माया से रक्षा ही समझना चाहिये जिस के अन्यान्य साधनों का निर्देश अन्यत्र है इन साधनो का आश्रय ले जीव जब माया से रक्षित हो जाता है तो वह यम से रक्षित होना चाहता है। वस्तुत: यम से रक्षा ही भवबन्धन का नाश कर भवसागर से पार पहुँचाती है और इस प्रकार आवागमन के चक्र से बच कर जीव मोक्ष पद को प्राप्त करता है। मोक्ष प्राप्ति ही ब्रह्म प्राप्ति होती है। ब्रह्म प्राप्ति का स्वरूप उसने ब्रह्म ज्ञान पुन: ब्रह्म रस पान एव ब्रह्मानुभूति कह कर स्पष्ट किया है यह ब्रह्मानुभूति ही मानव जीवन का एक मात्र साध्य है, इसी की विशेषता यही है कि इस के साधन का प्रत्येक स्तर भी अपने आप में साध्य है और वह साधन दैनिक जीवन के वे आचरण हैं जो मानव की भावनाओं को उदात्त बना

कर उन में अन्तर्हित महत्तत्व को उद्भासित करने मे सहायक होता है।

माया से रक्षा के कबीर ने तीन साधन बताये है, सर्व प्रथम जीव स्वत: प्रयत्न करता है जो मानव अपने विकारों को भुला कर इन्द्रियो पर विजय पाने के लिये प्रयत्नशील रहता है वही माया से बच सकता है[1]।

इन्द्रियो पर विजय पाने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है और यह अभ्यास ही वैराग्य को उत्पन्न करता है। जब तक लौकिक वस्तुओं के प्रति विराग न हो, तब तक माया से रक्षा सम्भव नही क्योकि, 'बिनु वैराग न छूटसि माइआ'[2] शारीरिक प्रयत्न एव साधनो का महत्व बताने के बाद वह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का विशेष महत्व समझता है। 'सिमरि-सिमरि हरि हरि मनि गाइए'[3] तभी सब आपत्तिया नष्ट होगी और ऐसे स्मरण से हो माया दूर भागेगी। लेकिन यह स्मरण 'सतिगुरु ते पाइए' तभी स्मरण का महत्व हो सकता है। क्योकि 'गुरु बिना गत नही' इस प्रकार उस ने यह स्पष्ट कर दिया कि गुरु ही नाम से जीव का सम्बन्ध जोड सकता है। और उसी से माया भाग सकती है। बाह्याडम्बरी वैरागी को भी उसने सतर्क किया है कि माया से रक्षित होने के लिये बाह्य नही आन्तरिक वैराग्य की आवश्यकता है जिस के लिये सतगुरु की शरण में जाना होगा[4] वह माया जिस ने ससार के सम्पूर्ण विद्वानो को वश में कर रखा है, कबीर के गुरु की दासी बन गई

1. श्लोक ५ 2. पृ. ३२६, ३४।
3. पृ. ६७१, १०। 4 पृ. ११०४, ८।

है। और 'जिनहि बरी तिसु चेरी'[5] संत के भी पीछे पडने वाली यह माया केवल 'गुरु परसादि भारहि डरे' और सतगुरु को सामने देख यह भाग खड़ी होती है अतः कृपालु गुरुदेव से मिलते ही उस से रक्षा होती है। [6] नारद के सयम को समाप्त कर देने व ली इस माया से कबीर की रक्षा सतगुरु ने ही की थी [7] इस प्रकार सारे ससार को भरमाने वाली माया से जब तक जीव की रक्षा न हो तब तक वह जीवन मे कुछ नहीं कर सकता। सतगुरु के प्रयत्न से जीव जब माया से बच निकलता है तब उसे भयानक यम के दर्शन होते हैं लेकिन शीघ्र ही उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि 'अपनी जीती कहा करै जमरा'[8] इस से स्पष्ट है कि माया विजेता स्वत: ही यम से रक्षित हो जाता है। योगियों को कबीर ने बताया है कि जब उन्मन मुद्रा मे रह कर विशुद्ध होकर प्राणायाम पर आधिपत्य कर लिया, तब वह अनायास ही वृद्धावस्था एव जीवन और मृत्यु से भी रहित हो सकता है।[9]

'कूटन सोइ जु मन कउ कूटै,
मन कूटै तउ जम ते छूटै।'[10]

मन को वश मे करने वाला तथा जिह्वा से रामामृत पान करने वाला व्यक्ति अनायास ही अमर हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का 'कहा करै जमना'। [11] इन सब प्रयत्नो से भी

---

5. पृ ४७६, ४।
6. पृ. ८७१, ७।
7 पृ. ८७२, ६।
8. पृ. ४८०, १६।
9. पृ. ६७१, १०।
10. पृ. ८७१, १०।
11. पृ. ४७६, ५।

जब तक जीव को पूर्ण विश्वास नही होता कि यम से उसकी रक्षा हो सकेगो तब वह ब्रह्म से यही प्रार्थना करता है कि मुझे यम की यातना से बचाओ ।[12] उस के लिये आश्रय मिलता है उसे गुरु का । क्योंकि गुरु 'उपदेसि काल सिउ जुरै'[13] वह काल से भी युद्ध कर सकता है, संक्षेप मे मूल बात इतनी ही है कि

'जउ पै राम राम रति नाही ।
ते सभि धरम राइ कै जाही ॥'[14]

प्रभु का जाप करने वाले कबीर ने अनुभव किया कि 'यम भी मेरा न करै तिराकार' क्योकि 'जिनि-उह जमूआ सिरजिआ'[15] उस प्रभु का कबीर ने जाप जो कर लिया । माया से बचा हुआ जीव यम से भी रक्षित होकर भव बाधाओ को नाश करने में तल्लीन हो आत्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा ।

भव-बन्धन को नाश कर भव-सागर से पार जाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यक है कि मानसिक विकारो को दूर किया जाये दूसरे शब्दो में इन्द्रियो के क्रियाकलापो मे सतुलन एव निग्रह की आवश्यकता है । 'पंच चोर को जानै रीति'[16] इन इन्द्रिय रूपी चोरो को वस में करने का ढंग जो जान जायेगा वही तो भव-पार पहुँचेगा । पाप के भार से दबे हुए इस देह रूपी जर्जर बेड़े को ससार से पार उतारना तब तक सम्भव नही है जब तक इसे पुण्यो और सत्कर्मो से हल्का

12. पृ ८५६, ५ ।
13. पृ. ११५६, ११ ।
14 पृ. ३२४, ५ ।
15. श्लोक १४० ।
16. पृ. ३४४, ३

न कर लिया जाये। इस प्रकार सत्कर्मो द्वारा मन को सन्मार्गी बनाना और उस पर विजय पाना ही भव-पार पहुँचने का एकमात्र साधन है। कबीर के 'मनु जीतै जगु जीतिआ'[17] को ही गुरु नानक ने 'मनि जीतै जगु जीतु'[18] के रूप मे स्वीकार किया है। माया से रक्षा हो जाने पर भी यदि मन को वश मे न किया तो भी भव-पार नही पहुँचा जा सकता, क्योकि व्यर्थ के अभिमान और अहकार के कारण ऋषि-मुनि तक न बच सके। कबीर 'माइआ[19] तजी त किआ भइआ जउ मानु तजिआ नही जाइ' इस प्रकार भव पार पहुँचने के लिये अह का त्याग नितान्त आवश्यक है। कर्मण्य जीवन का सदेश देने वाले कबीर ने मानव को सचेत किया है कि भव पार पहुँचने के लिये सोते रहने से कुछ न बनेगा, अपितु उसके लिये प्रयत्न शील रहना होगा, वही व्यक्ति भवपार करेगा जो कर्मण्य जीवन व्यतीत करेगा।[20] भौतिक ऐश्वर्य के साधन जुटाते हुये तथा शारीरिक उपभोग की सामग्री एकत्रित करते हुये जिस ने ब्रह्म ज्ञान नही प्राप्त किया, वह भी भव-पार नही पहुँच सकता।[21] अत: शारीरिक तुष्टि में ही लिप्त न रह कर शून्य को जान कर उस मे अपने मन को स्थिर कर जो व्यक्ति उस का भजन करता है वह भक्त अनायास ही भव-पार पहुँच जाता है।[22] इस प्रकार सासारिक सम्बन्धो को त्याग जो

---

17 पृ, ११०३, २।
18. पृ ६४० १, २८।
19. श्लोक १५६।
20. पृ. ६७१, १०।
21. पृ. ११२४, ४।
22. पृ. ७६३, ४।

'हरि धिश्रावै' वह 'जीवन्त बन्धन तोरै'[23] जोव के बाह्य प्रयत्नो के वाद भव-सागर पार करने के लिये श्रावश्यक साधन के रूप में नाम श्रौर जप का विशष मैहृत्त्व बताया गया है।

'जिसने हरि नामा चितु लाइ' उसने ससा नही श्रन्ति परम गति पाइ'[24] वस्नुत. नाको हृदय से लगाये बिना साँसारिक भ्रम एव भय दूर ही नही होते। श्रौर नाम मे भी बाह्याडम्बर की श्रपेक्षा नही, इतना भी नही नाम भी एकाकी श्रौर एक ही राम का चाहिये, 'सरब तिश्रागो जपु केवल रामु'[25] श्रौर जब हृदय में राम हो निवास करने लग गये, तब वह चाहे जाति का जुलाहा ही क्यो न हो, उस के भी 'चूकहि सरब जजाल'[26]। जिस ने देह की मटकी मन का विलोडन कर शब्द से नाता जोड़ लिया है वहो 'उतरे तीरा' वस्तुत ब्रह्म के महत्व को न समझने वाले 'जितु घटि नामु न ऊपजै फूटि मरै जनु सोइ'[28] क्योकि 'राम नाम विनु सभै बिगूते' [29] क्योकि उसके नाम के बिना सभी ठगे जो गये। यह सब जानने पर ही कभी २ भगवान् से प्रार्थना करता है कि मेरे श्रवगुणो का नाश कर मुझे सम्मति दीजिये श्रौर मेरा मन श्रपने में लगाइये। श्रौर जब एक बार उसने इस रस का पान कर लिया तो फिर 'राम जपत तनु जरि की न जाइ। राम नाम चितु रहिश्रा

---

23. पृ. ४८०, १८।
24 पृ० ३३५, ५५।
25. पृ० ३२४, ३।
26. श्लोक ८२।
27. पृ. ४७८, १०।
28. पृ. ३३५, ५५।
29. पृ ७६३, ५।

समाई।'[30] किसी भी शर्त पर वह नाम को छोडने को तैयार नही, यद्यपि नाम का रहस्य जाने बिना उसका कोई मूल्य नही क्योकि जिसने 'राम नाम की गति नही जानी कैसे उतरसि पारा'[31] उसके लिए तो बिना अर्थ जाने वेदो पुराणो का पठन भी 'खर चन्दन जस भारा' से अधिक कोई मूल्य नही रखता, यह तार्किक एव बौद्धिक कबीर का मत है लेकिन भक्त कबीर ने तो नाम के महत्त्व को समझाते हुए कहा है कि स्वप्न में बर्राते हुए भी किसी के मुख से राम निकल गया तो वह भी इतना पवित्र हो गया, कि 'ताके पग की पानही मेरे तन को चाम'[32] इसी विचार-धारा की पुष्टि मे उन्होने बताया है कि अजामिल, गण तथा गणिका आदि भी निकृष्ट कर्म करने वाले 'राम नाम लीने'[33] पार उतर गये। इस सब से स्पष्ट है कि सिद्ध साधक मुनि आदि भी सब प्रयत्न करके हार जाते हैं लेकिन एक मात्र नाम कल्पतरु ही उन्हें भव पार पहुँचाता है और कबीर को इस बात की प्रसन्नता है कि उन्होंने ऐसे नाम को पहिचान लिया है। जिसको 'माइआ तपति बुझिआ अंगिआरु, मनि सतोखु आधारु'[34] आधार बनाने पर कबीर के सभी कष्ट दूर हो गए हैं। नाम का महत्त्व न केवल कबीर में ही देखने को मिलता है अपितु सम्पूर्ण सन्त मत इस दृष्टि से उस महान् सन्त का ऋणी है जिसने हजार वर्ष तक भक्त समाज को नामामृत का पान करा कर अमर कर दिया। ऐसे नाम का जप जीव को

30. पृ. ३२६, ३३।
31. पृ. ११७१, १।
32. श्लोक ६३।
33. पृ. ६६2, ५।
34. पृ ३३१ ४०।

अनुभव कराने मे सहायक सिद्ध होता है। नाम का तल्लीन होकर अनवरत स्मरण ही जप है। चौरासी लाख योनियो के चक्र से बचाने के लिए जीव को इसी जप का सहारा लेना पडता है इसीलिए क्षणिक देह द्वारा प्राप्त अमूल्य समय का अपव्यय न कर, कबीर ने सन्देश दिया है कि 'भजहु गोबिन्द भूलि मत जाहू।'[35] क्योकि वृद्धावस्था मे जब वाणी और देह के अन्य अङ्ग कार्य न करेंगे, तब जप करने की सामर्थ्य ही कहा बाकी रह जायेगी। इसका उपयुक्त साधन केवल गुरु की शरण लेना ही है, 'जल भरी गागरी'[36] यह देह तो क्षणिक ही है अतः जब तक सतगुरु न मिलेगा, तब तक मुक्ति का द्वार न खुल सकेगा, क्योकि वही तो नाम के महत्त्व को बता कर नाम दे सकता है और यह नाम भी उसकी कृपा के बिना प्राप्त नही हो सकता। उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए मानव को सत्कर्मो का आश्रय लेना होगा। सत्कर्म की प्रेरणा सत्सगति से मिल सकती है और सत्सगति भी तो अच्छे भाग्य के बिना सम्भव नही, इस प्रकार वह गुरु ही 'जोति महि मनि असथिरु करै' जिससे इस भवसागर से प्राणी तरै[37] भव-बन्धन का नाश कर जीव भवपार पहुँच जाता है लेकिन भवपार पहुँच के भी उसे भगवत् प्राप्ति करनी है जिसके लिये आवागमन के चक्र से सदा के लिए बचना आवश्यक है। इसी लिये मानव मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक बना रहता है—'लोभ मोह सरब बिरसि जाहु' चंचल मनोवृत्तियो को बन्धन मे रख मनोविकारो को भुलाने वाला

---

35. पृ. ११५६ ६। 36. श्लोक ७३।

37. पृ ११६२, २०।

जीव ही तो मोक्ष प्राप्त करता हुआ युग २ तक अमर फल खावहु'[38] गुरु की कृपा से जब वासनाओ की 'अनलु बुझाइआ'[39] तभी तो वह जीवत मुक्त हो सकता हैं। वस्तुतः इन्द्रियो को मारना अथवा उन्हे शिक्षित करना ही इस मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इन्द्रियो को वश मे करने के साथ ही साथ सांसारिक रस का त्याग कर माया से बचना पडता है— यौगिक क्रियाओ से जो 'अनहद किगुरी बाजी'[40] उसे सुन कर माया भाग खडी हुई और मन आनन्द से परिपूर्ण हो गया तभी जीव आवागमन के बन्धन को छोड अभय पद को प्राप्त कर सकता है। अपने प्रारम्भिक जीवन मे कबीर ने युग का विशेष महत्त्व स्वीकार किया योगी के लिये नव द्वारो को रोक कर दशम-द्वार ब्रह्मरन्ध्र को खोल लेने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। क्योकि वहा से ही 'अमृत धार चुआवउ' और उस अमृत रस पान मे ही वह अभय-पद को अनुभव करता है[41] स्वत. किये गए प्रयत्नो मे हरि सेवा का भी विशेष महत्त्व है, अन्यान्य देवी देवताओ की पूजा को निस्सार बताते हुए तथा तीर्थस्नान आदि बाह्याडम्बरो को व्यर्थ का जञ्जाल घोषित करते हुए कबीर ने कहा है कि जो व्यक्ति राम की सेवा करता है वही 'जीवत पावहु मोख दुआर'[42] और यह हरि सेवक ही है जिसका काल भी कुछ बिगाड नही सकता। अत मोक्ष प्राप्ति के लिये हरि सेवा मे ही तल्लीन हो जाना चाहिए।

---

38 पृ. ३३४, ५२। 39 पृ. ६७१, १०।

40. पृ. ३३४, ५३। 41 पृ. ११२३, ३।

महाबली रावण को भी केशो से खीच कर यमराज ने अपना अतिथि बना लिया था, क्योकि उसने नाम के महत्व को नही समझा था। अस्थिर ससार मे रावण की इस दुर्दशा को देखते हुए कबीर कहता है कि नाम को अपना लेना चाहिए'[43] क्योकि 'राम नाम बिनु मुकति न होइ' यदि कही 'गोविन्द लिव लागी' तो 'जनम मरन का भरम गइआ'[42] जीव का आवागमन भगवान् के आदेश से ही होता है। अतः उससे बचने के लिए भी उसी की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है'[45] और उसके लिए भगवान की सेवा। क्योंकि सेवा से भगवान की कृपा प्राप्त हो सकती है। और इस प्रकार 'जिन कउ किरपा करत है गोबिन्दु ते सतसगी मिलात'[46] और भगवान की कृपा भी किसी सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होती है जिसे यह कृपा प्राप्त हो गई, वह अनायास ही आवागमन के चक्कर से निकल जाता है। इस आवागमन के चक्र से बचने पर ही जीव को ब्रह्म की प्राप्ति होती है अतः ससार में उसी का नाश करना चाहिए 'जिह मुए सुखु होइ' यही आनन्द ब्रह्म की प्राप्ति है।[47] तामसिक वृत्तिसांसारिक भ्रम तथा आन्तरिक मलिनता को दूर कर यदि दसो द्वारों एवं पांचो इन्द्रियो से भगवत स्मरण किया जायेगा तभी उसकी प्राप्ति हो सकेगी[48]। इसकी प्राप्ति के लिए असार एव अस्थिर जगत में पुत्र, स्त्री,

---

42. पृ. ३४३, ७६।
43. पृ. ११०४, ६।
44. पृ. ११६२, १६।
45. पृ. ११०३, ४।
46. पृ १२५२, २।
47. श्लोक ६।
48. पृ. ११५८, ४।

तथा माया के वास्तविक रूप को जानकर इनका त्याग करना होगा। और इस प्रकार ससार के प्रति मृतक होने के बाद भी अन्तर मे 'भइआ आनन्दु' ब्रह्म मिलन के आनन्द की अनुभूति होगी।[49] यौगिक क्रियाओं का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है निरन्तर अपलक दृष्टि से ब्रह्म की ओर देखते २ नेत्र लाल हो जाते हैं और इसी अभ्यास से ब्रह्म की प्राप्ति होती है तब धीरे धीरे दृश्य व दर्शक एकाकार हो जाते हैं अथवा शरीर की मटकी का मन द्वारा मन्थन करना चाहिए तब अन्तर में ब्रह्मानन्द की अनुभूति हो सकेगी[50]। अन्तर मे ध्वनित अनहद नाद की जो वीणा बजेगी, उसका स्वर कभी न टूटेगा और इस स्वर को सुनने वाले का मन आनन्द से परिपूर्ण हो जावेगा, वस्तुत. यही ब्रह्म प्राप्ति की अवस्था है।[51]

ब्रह्म प्राप्ति के लिये वैयक्तिक योगसाधना से अधिक महत्व जन सेवा का है युवावस्था मे सशक्त देह से जो व्यक्ति जन सेवा करता है वही 'पाए निरजन देव'[52] कबीर की भक्ति पर व्यग करती हुई लोई कहती है कि 'मू ड पलोसि कमर बधि पोथी' साधुओ को तो कबीर सब कुछ देते हैं लेकिन हमें तो 'चबेना' भी नही भर पेट मिलता कबीर उत्तर देते हैं—

'सुनि अंधली लोई वे पीर, इन्हि मु डीअन भजि सरनि कबीर।'

अत: उनकी सेवा करने में तुम्हें दु:खी नही होना

---

49. श्लोक ६। 50 पृ. ४७८, १०।

51. पृ ३३४, ५३। 52 पृ. ११५६, ६।

चाहिये[53]। बाह्य प्रयत्नो के बाद कबीर की दृष्टि आन्तरिक प्रयत्नो पर जा पड़ती है, उनके लिये भगवत् प्राप्ति के लिये काशी मे मरने का कोई महत्व नही, क्योकि परम-पद तो वही पा सकता है जिस ने 'हरि नामा चितु लाइ'[54] यह भक्ति अनन्य और सहज होनी चाहिये जो व्यक्ति अनायास ही अनवरत रूप से भगवान् के अखड आनन्द में विचरण करता है'[55] वही तो उसे पा सकता है, शरीर के मन्दिर मे सकल्प के स्तम्भ का आश्रय लेकर 'करै भक्ति आरम्भ' वह भक्ति ही ब्रह्म को मिला सकेगी'[56] पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण अथवा भगवत् कृपा के कारण जिन्होने भक्ति को दृढता पूर्वक अपनाया है वे ही भक्ति के सिहासन पर चढ कर 'राम कबीरा एक भए हैं कोई न सके पछानी'[57] वस्तुत यह भक्ति ही कस्तूरी-वत् ब्रह्म की अनुभूति अन्तर मे करवाती है, उसके लिये सासारिक चतुराई को छोडने वाला व्यक्ति ही अधिक सफल हो सकता है क्योकि 'भोले भाइ मिले रघुराइआ'[58] और इस के लिये कबीर ने तो 'मनु दे रामु लिआ है मोलि'[59] सब मिला कर यह कहा जा सकता है कि सभी सासारिक प्रयत्नो से अप्राप्य ब्रह्म निश्छल, निष्कपट, अनन्य, अनवरत व तीव्र भक्ति से सुलभ है। इसी लिये सच्चे भक्त को पहिचानने वाले जीव को सफल बताया है क्योकि वही सहज की अकथ-

53 पृ ८७१, ६।
54 पृ 335, ५५।
55. पृ १३४९, १।
56 पृ. ३४४, १।
56. पृ ३४४, १।
57 पृ. ९६९, ३।
58. पृ ३२४, ६।
59. पृ ३२७, १९

कथा को गुरु के माध्यम से जान सकेगा और सत्सगति तथा उसकी कृपा से 'हरि धन पाइश्रो'[60] लेकिन उन सब साधनो से बढ कर भगवान के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण की आवश्यकता है जिस के लिये भगवान पर पूर्ण विश्वास होना चाहिये, कबीर कहते हैं यदि कोई मा अपने पुत्र को विष दे दे तो उस मे प्रभु का क्या दोष, ठीक इसी प्रकार जिस जीव या भक्त ने तन, मन, धन सभी कुछ तो भगवान को सौप दिया है, 'तिन कोउ मिलियो सारग पानी'[61] और इस सब के लिये सौभाग्यशाली होना आवश्यक है क्योंकि जब तक भगवत्कृपा न हो, तब तक जीव के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं'[62]।

वेद कुरान आदि सब इस लिये भूठे हैं क्योंकि इन से 'दिल का फिकरु न जाइ' यदि क्षण भर के लिये भी हृदय में स्थिरता आ जाये तो स्वत: भगवान ही उपस्थित हो सकते हैं[63] और संसार से वीतरागी होने वाला ही उस रस को पहिचान सकता है, 'इह रस छाडै ओहु रसु आवा' और जिस ने एक बार 'ओहु रसु पीआ' उसे फिर 'इह रसु नहि भावा'[64] अत: ब्रह्म रस का पान करने के लिये विश्व-रस से नीरस होना पडता है, यह नीरसता सच्ची और आन्तरिक होनी चाहिये। तभी व्यक्ति अपनी आत्मा के तेज को उस महातेज मे मिला कर ऐक्य सम्पन्न कर सकता है।[65] कबीर योगियो से प्रभावित हैं, इड़ा, पिंगला एवं सुषुमना नाडियो के महत्व का भी उन्हें ज्ञान था, ब्रह्मरन्ध्र एव सहस्रार से श्रवित होने वाले अमृत से भी

---

60. पृ. ४७६, १५। 61 पृ ८७३, ११।
62. पृ ३२७, २१। 63. पृ. २२७, १।
64. पृ ३४२, ३५। 65 पृ० ८५७, ११।

वे परिचित थे यही कारण है कि भगवत् प्राप्ति के बिना ही अन्तर्जगत को अभ्यास द्वारा उद्‌बुद्ध करने पर भी वे नही ब्रह्म-रस का पान कर सकते थे। और जब एक बार उनकी लौ ब्रह्म से लग गई, तब तो वे रात दिन उसी में लीन हो गये। अपलक दृष्टि से उन्हें हरि के बिना कुछ दिखता ही नही, क्योकि उनके नेत्र उसी के अनुराग से लाल है[66]।

'लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल,
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।'

योगी तो आन्तरिक षट-चक्रों में खडो को देखना है और उसी में ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं जिस से वह सांसारिक भ्रम में नही पडता, ऐसी अवस्था में बाहर की दसो दिशाओं में दौड़ने की आवश्यकता नही है क्योकि उसके तो 'बाहरी, भीतरी भइआ प्रकासु' [67]।

गुरु द्वारा अनुभूत ज्ञान का प्रकाश ही भक्तो तक फैला है और 'दासु मदमाता' जिसकी मस्ती उतरती ही नही ऐसे ब्रह्म रस का पान करने वाले कोही वह सौभाग्य-शाली समझता है लोगों के भ्रम को दूर करता हुआ तथा नाम के महत्त्व को बताता हुआ कबीर कहता है कि इस जुलाहे के सामान्य कार्य में कौन अपना अमूल्य जीवन खोये। इसी लिये हाथो से जुलाहे का कार्य करते हुये भी उस के 'हिरदै रामु मुखि रामै' होई[69]' आन्तरिक दृष्टि से पूर्णत. उसने अपने आप को

66. ६५५, ४।
67. पृ. ३४५, ७।
68. पृ ६६६, २।
69. पृ ३७६, २६।

राम में तल्लीन कर रखा है इसो लिए वह प्रेम-रस पान कर पाता है और जिस राम के रहस्य को 'सनक सनन्दन' महेश और शेष भी न जान सके वह 'सन्त सगति रामु रिदै बसाइ'[70] यह सब गुरु की कृपा से होता है लेकिन गुरु की कृपा भी वहाँ कुछ नही कर सकती 'जउ रामु न करै सहाइ' क्योकि उसकी सहायता के बिना 'जिहु जिहु डाली पगु धरउ सोइ मुरि मुरि जाइ'[71] वस्तुतः वही सौभाग्यशाली है 'अम्रित रसु जिनि पाइआ' और यह सब भगवत्कृपा से ही सम्भव है।[72] कबीर के साध्य की अन्तिम सीढी है, भगवान् मे तल्लीनता और उमसे पूर्ण ऐक्य यह अभिन्नत्व ही जीव की सत्ता को समाप्त कर अद्वैत स्थापित करता है। ससार मे सोने वाले जीव को कहा है कि जाग उठो और 'जाके सग ते बीछुरा ताहि के संग लागु'[73] ओले की तरह घुल कर जल रूपी ब्रह्म में मिलना होगा। सासारिक वासनाओ से उदासीन हो मन को जीत कर ज्ञानान्जन प्राप्त करने वाला हो, 'अन्तरगति हरि मेटिया'[74] यही उससे ऐक्य है ऐसा ऐक्य जहा वियोग का प्रश्न ही नही उठता। निरन्तर प्रभु का विचार करते हुए घट मे ही जब जीव प्रभु से क्रीड़ा करने लगता है तब यम तो उससे दूर भाग जाता है और वह 'आदि पुरख मे ही रहै समाइ'[75] और 'कबीर तू तूं करता तू हुआ मुझ महि रहा न हूं।

---

70 पृ. ६९१, १ — 71 श्लोक ६७।

72 पृ. ६६९, ४ — 73. श्लोक १२६।

74 पृ. ११०३, २। — 75. पृ. ३४३, ७६।

लव आया परका मिटि गइआ, जत देखउ तत तू [76]

इस प्रकार जीव अपनी सत्ता को खो कर केवल उसी की सत्ता को अनुभव करने लग जाता है।

सक्षेपत: कबीर के जीवनोद्देश्य की साधन साध्य प्रक्रिया का विकास हमने देखा। सासारिक भय से आतुर सांसारिकता का ज्ञान पाते ही सर्व प्रथम माया से अपनी रक्षा की इच्छा करता हुआ जीव उस दिशा में प्रयत्नशील होता है। अपने स्थूल ज्ञान के अनुकूल पहिले वह शारीरिक पुन. साधनात्मक तत्पश्चात् मानसिक एव आत्मिक प्रयत्न करता है लेकिन शीघ्र ही उसे ज्ञान हो जाता है कि पथ प्रदर्शक गुरु के बिना सब साधन व्यर्थ हैं। और वह गुरु का आश्रय लेता है, परंतु यह अनुभव करने मे भी देर नही लगती, कि भगवत् कृपा बिना इतना सौभाग्यशाली नही बना जा सकता, कि त्रिलोक वशकारिणी माया से रक्षा हो सके। माया से रक्षित जीव सासारिक प्रलोभनो से अवश्य बच निकलता है। लेकिन अपने क्षेत्र के एकाधिपति यम का भय उसे निरन्तर चिन्तित किये रखता है। इस प्रकार उसे यम से रक्षा का प्रयत्न करना पडता हैं। यम से रक्षित हो वह भव-बन्धनो का नाश कर उस पार पहुँचने का प्रयत्न करता है और यही प्रयत्न उसे मोक्ष एवं अभय पद का इच्छुक बना देता है। मोक्ष प्राप्त के बाद आवागमन के चक्र से बच कर जीव भगवत् प्राप्ति करना चाहता है, ब्रह्म-दर्शन कर उस का ज्ञान प्राप्त करता है और धीरे २ उस की अनुभूति में अपने आप को खोकर उस से

76. श्लोक २०४

ऐसा ऐक्य सम्बन्ध स्थापित करता है जहा दोनो के रूप में कोई भेद नही रहता। शंकर के अद्वैत की भी यही पुकार है।

सहायक शक्तियाँ

मानव जीवन का साध्य ब्रह्म से पूर्ण ऐक्य है। जीव का अपने साध्य से परिचय हो जाने पर उस दिशा में प्रगतिशील हो जाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि गत प्रकरण में साधनो पर बहुत सा प्रकाश डल चुका है लेकिन कुछ स्थल अस्पष्ट भी रह गये हैं क्योकि वहां साध्य प्रधान था और साधना उस के अनुकूल। अत साधनों का स्वतन्त्र अस्तित्व व महत्त्व न स्पष्ट हो सका। यहा साधनो का अपना ही विकास क्रम हैं। वस्तुत साधन से अधिक उन्हे सहायक शक्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवत् प्राप्ति के दुर्गम मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये अन्यान्य शक्तियो का आश्रय लेना पडता है, यह शक्तिया कभी प्रयत्न साध्य होती है और कभी अनायास ही उपलब्ध। उन की अनायास उपलब्धि भी सम्भवत· पूर्व जन्म अर्जित संस्कारों के कारण ही होती है। सत्कर्म, सत्सग तथा सत्गुरु कृपा आदि न जाने कितने चौराहो से होकर जीव को भगवत् कृपा प्राप्त करने लिये प्रयत्नशील होना पड़ता है, लेकिन अनन्य भक्त को तो अनायास ही अपनी तल्लीनता में ही भगवत् कृपा की अनुभूति हो जाती है। अतः इन सब शक्तियों को ब्रह्म प्राप्ति के साध्य में सहायक शक्ति का नाम देना अधिक युक्ति सगत प्रतीत होता है।

भगवत् कृपा

वस्तुतः भगवत् प्राप्ति का एक मात्र साधन है भगवत्-

कृपा। मानव के सब सत्कर्म, योग, जप, तप, ज्ञान और सम्पूर्ण भक्ति भी यदि जीव को भगवत्कृपा का अधिकारी नही बना सकती तो सब व्यर्थ है. भगवत् कृपा के लिये आवश्यक है कि कि जीव मे ब्रह्म क प्रति जिज्ञासा हो, ऐसी जिज्ञासा जो मृत्यु के अनन्तर भी सर्व-भावेन उसी को अपना अधिपति स्वीकार करे, अत. उसकी अनन्त शक्ति के प्रति भयोत्पन्न हो। अप्रत्यक्ष रूप से भय ही उस अनन्तशक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता हैं। श्रद्धा का आधार है विश्वास, अपने पर जिस व्यक्ति को भरोसा हो और उस को अनन्त शक्ति पर जिसे विश्वास हो उसी मे उपयुक्त रूप से श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। सच्ची श्रद्धा एक बार अनन्त शक्ति पर पूर्ण विश्वास पूर्वक की जानी चाहिये, फिर तो जीव स्वत· ही पुकार उठता है 'अब कहु राम भरोसा तेरा'[1] जीव को उस पर भरोसा हो गया और यह ज्ञान भी हो गया, कि वही सब के कार्य करता है।

'साहिब होउ दइआलु, कृपा करै अपुना कारजु सवारै।'[2] भगवान दयालु हुआ और भक्त का कार्य बन गया क्योकि उसी ने तो कृपा करके ध्रुव और प्रह्लाद का भी उद्धार किया था, लेकिन यह कृपा तभी हो पाती है जब भगवत् विश्वास से भगवत् प्रेम उत्पन्न हो और प्रेम की यह तडपन घनीभूत होकर अनायास ही भगवान को कृपा कर देने पर लाचार कर देती है जिस पर यह कृपा हुई, उस का तीनो लोको में आदर होता है, वस्तुत. हरि कृपा से ही वह सत्सगति प्राप्त

1 पृ ३२८, २२।

2. पृ. ३३३, ५०।

होती है जिस से मन भक्ति में स्थिर होता है।[3] इसी से अत्यत शाति मिलती है। सत्संगति ही क्या जीव का कोई भी कार्य, भगवत्कृपा विना सम्पन्न नही होता। और 'जब हुए क्रिपाल मिलै गुरुदेउ, और यह गुरुदेव ही तो भगवान से मिलाने वाले हैं। इस दृष्टि में साधन साध्य से भी उपयोगी प्रतीत होता है। इस प्रकार जीव का वास्तविक[4] साध्य और साधन भगवत्कृपा की प्राप्ति ही है। इस लिये सब से सशक्त सहायक शक्ति भी भगवत् कृपा को ही माना जा सकता है।

सत्गुरु

उस के स्वरूप, गुण, एव कार्यों का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहां केवल इतना ही कहना है कि गुरु आडम्बरी न होना चाहिये. गुरु अपनाने से पहिले अच्छी तरह पहिचान कर लेनी चाहिये, कि वह सत्गुरु ही हो। ऐसा सत्गुरु जिसने स्वत. ब्रह्म अनुभूत कर लिया है, और इस प्रकार माया निर्लिप्त वह दूसरो का पथ प्रदर्शन करे। गुरु के गुण उत्कृष्ट-तम मानव के गुण कहे जा सकते हैं। और उस के कार्य की महत्ता को अनुभव करके ही कबीर ने उसे गोविन्द से भी पहिले प्रणाम किया था।

'गुरु गोबिन्द दोनो खडे, काके लागो पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दीओ दिखाए।।'

वस्तुतः विश्व में गोविन्द का प्रतिनिधि सत्गुरु को ही माना

---

3. पृ १२५१, १
4. पृ ८७१, ७।

जा सकता है इतना होते हुये भी वह जीव का निरन्तर पथ-प्रदर्शन करता रहता है तथा वैयक्तिक साधना के रूप मे नाम देता है ।

> राम पदारथु पाइकै कबीरा गाठि न खोल्ह ।
> नही पहणु नही पारखू नही गाहकु नही मोलु ।।[5]

वह नाम इतनी अमूल्य वस्तु है कि ससार के बाजार मे उसे पहिचानने वाले बहुत थोड़े ही ग्राहक हैं अतः सम्भाल कर रखना चाहिये। कि उनकी 'हरि के नाम बिनु किनि गति पाइ'[6] एक मात्र यह नाम ही तो माया और यम से जीव की रक्षा करता है ।[7] इसी में तल्लीन होकर जीव परमात्मा का सहवास प्राप्त करता है। क्योकि जिन्होने 'हरि का नाम न चेतिआ उन्होने' तो व्यर्थ ही जीवन गवाया और वे 'नरकहि परहि'[8] क्योकि 'राम नाम बिनु मुकति न होई'[9] जिसने राम नाम का रस नही पीया, उसकी जिह्वा बेकार है। जिसने उसका नाम नही सुना, उसके कान जल क्यो न गये ।[10] वस्तुतः संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति से भी कही अधिक मूल्यवान है, 'इहु धनु मेरे हरि के नाउ ।'[11] इसलिये ससार में निर्धन की परिभाषा इस प्रकार है—

---

5. श्लोक २३ । 6 पृ ६५४, १ ।
7. पृ. ४८२, २५ । 8 श्लोक ६५ ।
9. पृ. ६५४. १ । 10 श्लोक ४ ।
11. पृ. ११५७, १ ।

'कही कबीर निर्धन है सोई।
जाके हिरदै नाम न होई॥'[12]

अतः इस नाम के स्वरूप का ज्ञान होना भी कठिन है, क्योकि यदि 'राम नाम की गति नही कैसे उतरसि पार।'[13] और वह गति क्या है? 'राम' कहन महि भेदु है तामहि एकहु विचार।'[14] तोते रटन्त का तो कबीर ने विरोध ही किया है क्योकि यह बाह्याडम्बर मात्र ही है— नाम लेने का रहस्य यही है कि भगवान् के उन गुणो में जीव को अपने हृदय को तल्लीन कर देना चाहिये। ऐसा राम नाम जिन दो अक्षरो से बना है 'ए दुइ अखर न खिसहिं'[15] इस नश्वर ससार मे यह दो शब्द ही अनश्वर है। इसका महात्म्य तो इतना है कि न केवल नाम लेने वाला मुख ही धन्य होता है अपितु 'देहि किसकी बापुरो पवित्रु होइगो ग्रासु'[16] वह कुल भी सार्थक हो जाता है जिसमें भगवान् का नाम लेने वाला 'हरि दासु' उत्पन्न हुआ है। नाम रूपी हीरे का व्यापारी ही तो सच्चा व्यापारी है। उसी मनुष्य की देह तो सुन्दर है जिसने नाम को आधार बनाया है क्योकि 'नाम बिना जैसे कुबज कुरूप'[17] और ऐसी देह स्थिर भी तो नही रह सकती, क्योकि 'जितु घटि राम न उपजै फूटि मरै जनु सोइ।' इसी लिये उसने भी तो प्रह्लाद के हट को दुहराया था।[18]

12. पृ. ११५६, ८।
13. पृ. ११०२, १।
14. श्लोक १६०।
15. श्लोक १७१।
16. श्लोक ११०।
17. पृ. ३२८, २५।
18. पृ. ३३३, ५५।

'मोकउ कहा पढावसि आल जाल,
मेरी पटीआ लिखि देउ स्रिगोपाल,
नही छोडउ से बाबा राम नामु।
मेरो अउर पढन सिउ नही कामु ॥[19]

संसार की सब पढाई और सब काम नाम लेने ही में तो निहित है क्योकि उसके बिना जीव का जीवन ही बेकार है। यह है नाम का महत्व और स्वरूप। भगवत् प्राप्ति मे साधन के रूप मे नाम मार्ग का अनवरत ध्यान ही जप कहलाता है। 'कबीर सूता किआ करहि, उठि कि न जपहि मुरारि'[20] सोते हुये जीव को सतंक किया है कि अब जब जप करने का समय है तब सोने की क्या आवश्यकता ? क्योकि इस क्षणिक जीवन में थोडी देर बाद ही तो 'लाम्बे गोड पसारि' सो जाना है। सासांरिक मोह माया मे उलझा जीव अभी सुलझ भी न पाया था कि कबीर ने पुनः ललकारा।

'हरि का नामु न जपसि गवारा।
किआ सोचहि बारम्बारा ॥'[21]

और यह जप माला फेरना मात्र नही है अपितु 'हरि जपि हिरदै माहि'[22] कहकर उसने भक्त के वास्तविक रूप से परिचित करवा दिया। अनन्त जीवनो तक उसके जप में लीन रहने का सदेश दिया है। जब नाम के आन्तरिक उच्चारण की भी आवश्यकता न रहकर केवल स्मरण की भावना रह जाती है, तब नाम सिमरण मे परिवर्तित हो जाता है, 'कागद जिउ गलि

---

19. पृ ११६४, ४।
20 श्लोक १२८।
21. पृ. ६५५, ७।
22. श्लोक १०६।

जाऊँगा'[23] और यम आ करके केशों से खीच ले जायेगा इस लिये सम्पूर्ण सासारिक सुखो को छोड़ उन सबसे श्रेष्ठ 'हरि सिमरन दिन जाई' नहीं तो 'नाम सिमरु पछुताहिगा मन'[24] सांसारिक विष को छोड कर नामामृत का आस्वादन करने की प्रेरणा देते हुए कबीर ने कहा है—

'राम सिमरि, राम सिमरि राम सिमरि भाई,
राम नाम सिमरे बिनु, बूड़ते अधिवाई ।[25]

इसके बिना अधिक लोग तो भवसागर में डूबते ही जायेंगे। यह सिमरन ही तो ऐसा बिना तेल का दीया है, जो काम, क्रोध आदि विकारो के सम्पूण अन्धकार को जड से उखाड़ फैंकता है। अत —'जिह सिमरनि तेरी गति होइ।

सो सिमरनु रखु कंठ पिरोइ ॥'[26]

इसलिये 'जिह सिमरन तेरी जाउ बलाउ' हे जीव 'सो सिमरन तू अनदिनु दिउ,"[27] इस सिमरन को प्राप्त करने का स्थान भी बता दिया है। इह सिमरनु सतिगुरु ते पाइये' और रात दिन उठते बैठते प्रत्येक समय व्यक्ति जो सिमरन करता है वही 'हरि सिमरनु पाइये संजोग' मानव जीवन का उद्देश्य ही भगवत् मिलन है और अनवरत सिमरन उसका साधन। सिमरन की भी चरमावस्था तक पहुंच कर जीव की 'अन्तरि लिव लागे'[28] यह भगवान में ऐसी तल्लीनता है जिसमे व्यक्ति सिमरन तो क्या अपमे आप को भी भुला देता है। और तभी वह 'सभ ही सुख पाव'[29] "क्योकि उसके सम्पूर्ण शोक तो मिट

---

23. श्लोक ११२।
24. पृ. ११०६, ११।
25. पृ. ६६२, ५।
26., 27. पृ ६७१, ६।
28. पृ. ६१, १।
29. पृ. ३४२, ४३।

चुके होते हैं। अतः कबीर अपने अनुभव से जोव को विश्वास दिलाता है कि मेरी २ छोड़ कर केवल 'राम रहहु लिव लाउ,"[30] इस प्रकार नाम उसका जप एव सिमरन तथा उसमें लौ लगाने का महत्व बताया है। वस्तुतः यह लौ (तल्लीनता) ही भगवत् भक्ति है अतः उसका स्वरूप देखना भी आवश्यक है।

भक्ति

कहु कबीर भगति करि पाइआ।
भोले भाइ मिलै रघुराइआ ॥[31]

भोलेपन से भरी हुई भक्ति से ही भगवान मिल सकते हैं इसी लिये 'चरन कमल जाके रिदै बसहि' वह मनुष्य कभी नही डोलता, अपितु 'सर्वत्र सुखु पावै[32] इतना ही नही, भक्ति इसलिये भी महत्वपूर्ण है क्योंकि 'बिनु हरि भक्ति न मुक्ति न होई'[33] और यह भक्ति ही है जो मृग में कस्तूरी वत् जीव में अन्तर्हित ब्रह्म को उद्‌भासित करती है। इसी कारण तो उस नगर से वह निर्जन स्थान ही भला है, "राम भगति जिह ठाइ'[34] क्योंकि भक्ति रहित स्थान तो यम का नगर है, यही कारण है कि कबीर को उसे कोसना पड़ा।

'जिह नर राम भगति नही साधी।
जनमत कत न मुओ अपराधी ॥'[35]

भक्ति न करने वाला अपराधी जन्म पाते ही मर क्यों न गया? भक्ति के बिना प्रत्येक घर बेकार है, अतः उस घर

30. पृ. ११६०, १४।
31. पृ. ३२४, ६।
32. पृ. ८५७, १२।
33. श्लोक ५४।
34. श्लोक १५१।
35. पृ. ३२८, २५।

को आग लग जानी चाहिये, 'जिह नाही हरि नाउ"[36] घर का ही क्या कहना ? भक्ति के बिना तो मानव का जीवन ही व्यर्थ है। इसी लिये कबीर ने पढ़ने से योग को भला समझा था, लेकिन भक्ति पाकर कह उठा, कि वह उसे छोड़ने को तैयार नही, 'भावै निंदउ लोगु'[37] अतः भक्ति की युक्ति जाननी आवश्यक है, क्योकि उसके विना मुक्ति नही, और जीव सांसारिक मोह-माया ही में ही फंसा रह जाता है। उसने आडम्बरी साधु ज्ञानगर्वित पण्डित को भव-तारक नहीं जाना, अपितु कोई जीव भव-पार नही हो सकता, जब तक—'भगति नारदी रिदै न आई"[38] कबीर की नारदी भक्ति शास्त्रीय न होकर अनुभूत है उन्होंने इसका विधिवत् शिक्षण न पाया था अपितु कही यह सुना होगा कि नारदी भक्ति ही भवतारक है सम्भवतः इसलिये उसका उल्लेख भी कर दिया। लेकिन कबीर की अनुभूत भक्ति के सभी तत्व शास्त्रीय भक्ति से अभिन्न नही। 'मन मारे बिनु भक्ति न होइ'[39] इसलिये विरले व्यक्ति ही भक्ति के अधिकारी होते हैं। उसकी प्राप्त का स्थान हैं 'सत्गुरु' और उसके लिए आवश्यक है उसकी कृपा। जयदेव और नामदेव इसके प्रमाण है।

'गुर प्रसादी जै देउ नामा।
भगति कै प्रेमि इनहि है जाना।'[40]

उस भक्ति में यह भी आवश्यक हैं कि भक्त 'असथिरु

---

36. श्लोक १५।
37. श्लोक ४५।
38. पृ. ६५४, ३।
39. पृ. ३२६, २८।
40. पृ. ३३०, ३६।

रहै न कतहूँ जाउ'[41] उसकी लग्न सदैव भगवान में लगी होनी चाहिये, उसका साधन भी उसने बताया—'काइग्रा मदर मनमा थम' बना लेना चाहिए .[42] तभी यह स्थिरता ग्रा सकेगी। भक्ति की सबसे पहली और कडी शर्त है अनन्यता की 'सरब तिआगी भजु केवल, रामु'[43] क्योकि जिस प्रकार कच्ची सरसों से न तेल निकलता है और न खल ही, उसी प्रकार अन्य देवी देवताओं का आश्रय लेना व्यर्थ है। अतः एक मात्र दानी ब्रह्म को ही भजना चाहिए। 'जउ जाचउ केवल राम, आन देव सिउ नाही काम,''[44] इसलिए एक ही ब्रह्म से अपनी लग्न लगा लेनी चाहिए, तथा, 'दूसरे मनहि न आना ना।'[45] सर्व शक्ति-मान भगवान का भक्त अन्य देवी देवताओं के घर जाता हुआ शोभा नही देता, ऐसे दूसरे में मन लगाने वाले भक्त को धिक्कारते हुए कबीर कहते हैं—

'रे जीअ निलज लाज तुहि नाही।
हरि तजि कत काहू के जाही॥
जाको ठाकुर ऊचा होई,
सो जनु पर घर जात न सोही॥'[46]

क्योंकि वह 'धनि, जनम ताहि को गनै।' इस अनन्यता के बाद चाहिये पूर्ण आत्म-समर्पण और उसमें भी 'सीसु काटि करि गोई॥'[47] यह समर्पण उस पिसी हुई मेंहदी

---

41. पृ. ४८१, २१।
42. पृ ३४४, १।
43. पृ. ३२४, ३।
44 पृ ११६२, २०।
45. पृ. ३३६ ७४।
46 पृ ३३०, ३८।
47. श्लोक २३६।

जैसा होना चाहिये जो पैर मे लगने पर उसे रग तो दे, लेकिन पैर में उसके छोटे से कण भी चुभ कर उसको उपस्थिति को सूचना न दे ।[48] सारे सासारिक बन्धनो को त्याग कर नेत्र, कान, वाणी तथा हृदय सभो इन्द्रियों से जीव को अपने आपको उसी मे लगा देना चाहिए क्योकि—

'हम तुम बीचु भइओ नहीं कोई ।
तुमहि सुकत नारी हम सोई ॥'[49]

और वह 'तुमहि छोड़ि जानउ नही दूजी'[50] भगवान की पत्नी बनते हुए वह लोई का पति भी तो रहा ।[51] उसी पूर्ण आत्म समपण का ही परिणाम है कबीर इतना भी नहीं जान पाते कि, 'पीअ महि जीउ बसै, जीअ महि बसै कि पीउआ ।[52] लेकिन इस आत्म समर्पण के साथ २ मेह के लिये, "चात्रिक जिउ तरपत रहै"[53] ऐसी तडपन की भी आवश्यकता है। इस तड़पन से ही भगवान में अनवरत ध्यान लगा रहना चाहिए और भक्त उसी में 'असथिरु रहै न कतहु जाइ'[53] इसलिए तो कबीर कहता है कि 'राम न छोडीए, तनु धनु जाइ त जाउ ।'[55] वह इस नाम को जो उसकी भक्ति का आधार है किसी भी शर्त पर छोड़ने को तैयार नही । इसी लिये उसने हर एक को संदेश दिया है कि आठ जाम चौंसठ 'घरी तु अनिरखत रहै जीउ ।'[56]

48 श्लोक ६५ ।
49. पृ ४८५, ३५ ।
50. पृ ११५७, २ ।
51. पृ. ३२८. २३ ।
52 श्लोक २३६ ।
53 श्लोक १२४ ।
54 पृ ४८१, २१ ।
55. श्लोक १०२ ।
56. श्लोक २३५ ।

संसार के सभी प्राणियो के माध्यम से भक्त भगवान को ही तो देखता है इस प्रकार कबीर की भक्ति के आवश्यक तत्व है, अन्यता, पूर्ण आत्म-समर्पण, अनवरत तडपन और उसमें ही एकाग्रता। ऐसी प्रेम भक्ति के सहारे ही लौकिक सहारो में लिप्त न होने वाला जीव भव-पार पहुँच सकता है। ध्रुव, प्रह्लाद, जयदेव, नाम देव सभी ने तो उसका आश्रय लिया था।[57] इसी लिए तो पूर्व जन्म के सस्कारों के कारण समार की निन्दा के भय को त्याग कर दृढता पूर्वक स्वय को उसकी भक्ति में लगा लिया, 'राम कबीरा रवि रहू अवर तजै सब काम'[58] यही है कबीर की अनुभूत भक्ति और उसकी रूप रेखा।

निष्काम कर्मण्य जीवन

'तिह बड़भाग बसिओ मनि जाके करय प्रधान मथानाना।'[59]

मन में कर्म की प्रधानता पर विचार करने वाला व्यक्ति ही सौभाग्य शाली है—क्योकि 'करि करता उतरसि पार'[60] काम करने वाला व्यक्ति ही भवसागर से पार उतर सकेगा, इसलिए कर्मक्षेत्र से पराड़ मुख नहीं होना चाहिए। अग २ कटवा कर मर जाना भला है पर 'कबहूं न छाडै खेत'[61]। जीवन सघर्ष है। सत पलायन के विरोधी थे अतः उन्होने दृढता पूर्वक सासारिक समस्याओ का मुकाबला करने का क्रियात्मक सदेश अपने जीवन के माध्यम से दिया है, उनका व्यक्तित्व और जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

---

57. पृ. ३३०, ३६।
58. श्लोक २३६।
59. पृ. ३३६, ७४।
60. पृ. ६७१, १०।
61 पृ. ११०५, ६।

संसार समर से न भागने वाले को ही उन्होने "सूरउ थारउ नाम'[62] सूर बताया है। कबीर, नामदेव और त्रिलोचन की बातचीत को प्रस्तुत करते हुए इसी भाव को पुष्ट करते हैं। त्रिलोचन के यह कहने पर कि इस 'छीपहु छाइले'[63] में ही नामदेव तू क्यों जीवन गवां रहा है ? नामदेव ने उत्तर दिया था—

'नामा कहै त्रिलोचन मुखते रांमु संभालि,
हाथ पाउ करि कामु समु चीतु निरजनालि ।[64]'

चित्त को भगवान में लगाते हुए भी उसने हाथों से कार्य नहीं रोका था कबीर ने भी कहा है 'हम घरि सूत तनहि नित,' लेकिन 'गोविन्दु रिदै हमारे ।'[65] इस प्रकार निष्कर्मण्यता का उन्होंने क्रियात्मक विरोध कर उसे भगवत् प्राप्ति में सहायक बताया है। अतः जीव को कम ही नहीं सत्कर्म करने चाहिए, नहीं तो कर्मभोग का व्याज ही बढता जायेगा, 'सुकृतु करि करि लीजै रे मन,'[66] सत्कर्मों की पहिचान का साधन भी कबीरा ने बता दिया है कि, 'संत की गैल न छोडिये ।'[67] जीव ने तो केवल उस मार्ग पर चलना है इसी लिए तो 'जिह मारगि पंडित गए पाछे परी बहीर,'[68] उनके माग पर ही तो समाज की भीड़ चल पड़ी, अतः जीव को सत्कर्म करते हुए जीवन संघर्ष में जूझते रहना चाहिए।

सत्कर्मों के साथ २ सद्गुणों का भी महत्व बताया है। जहां दुष्कर्म और दुर्गुण अवरोधक शक्ति के रूप में जीव को

---

62. पृ. ३४२, ३४। 63. श्लोक २१२।
64 श्लोक २१३। 65. पृ. ४८२, २६।
66. पृ ४७६, १६। 67. श्लोक १३०। 68. श्लोक १६५।

उसके उद्देश्य तक पहुँचने में रुकावट डालते हैं वहां सत्कर्म और सद्गुण मानव को ब्रह्मोन्मुख करने मे सहायक सिद्ध होते हैं। फलवान वृक्षो की तरह परोपकारी व दानी होना जहा जीव को नम्र और उदार बनाता है वहा उन्नत भी कर देता है।[69] जहा ज्ञान में धर्म है वहा झूठ में पाप है तथा 'जहा लोभु तह कालु है जहां खिमा तह आपि।' क्षमाधारी को तो भगवत्तुल्य ही बताया है। इस प्रकार भक्ति के साथ २ सद्गुण और सत्कर्म परक निष्काम कर्मण्य जीवन भी जीव को उसके साध्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है।

ज्ञान

ज्ञान के आडम्बरों में पडे हुए पण्डे-पण्डितों, बाम्हन-ब्राह्मणों, तथा मुल्ला मौलबियों का कबीर ने विरोध अवश्य किया है लेकिन इसका यह मतलब नही कि अपढ कबीर ने ज्ञान के महत्व को स्वीकार न किया हो उसने स्पष्ट ही कहा है 'जह ज्ञानु तहं धरमु है'[71] वस्तुत: विवेक एव विचार के बिना पुस्तकी ज्ञान का उन्होने विरोध किया। लेकिन विवेक का तो उन्होने इतना महत्व स्वीकार किया है कि उसे अपना गुरु तक कहने में नहीं चूके[72]। वास्तविक ज्ञान तो वही है जो अन्त.करण में ब्रह्म को उद्भासित कर उसकी पहिचान करवा दे[73]। भक्ति मार्गी कबीर का यद्यपि विशिष्ठ साधन नाम है

69 श्लोक २३० ।
70. श्लोक १५५ ।
71. श्लोक १५५ ।
72. पृ. ७९३, ५ ।
73. पृ. ३४०, ८ ।

लेकिन इस बात को भुला नही सके कि बिना विचार किये नाम का भी कोई महत्व नही, अन्यथा वह 'खर चन्दन भारा' ही बना रह जायेगा ।[74] अन्तर ज्ञान ही वह अमूल्य धन है जिसे पाकर जीव वास्तव मे धनी बनता है'[75] क्योंकि उसका 'त्रिसना अरु माइआ भ्रमु चूका ।[76] इस प्रकार—

'चीनत चितु निरजन लाइआ ।
कहु कबीर तौ अनभउ पाइया ॥'[77]

वस्तुत. कबीर का ज्ञान पुस्तकी ज्ञान न होकर स्वत. उद्भूत, अन्तःकरण का ज्ञान था । ज्ञान के आश्रय के बिना कबीर की भक्ति सशक्त नही प्रचलित, आडम्बर पूर्ण भक्ति की प्रतिक्रिया में यह उसने अनुभव किया था । इसी लिये जहां उसने अपनी भक्ति को निष्काम कर्मण्य जीवन से प्रवहमान व सचरण शील दैनिक जीवन का अग बताया था । वहा स्थायी भी किया था । उसे ज्ञान के सम्बल से सशक्त एव भक्ति की प्रधानता होते हुए भी उसने ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समुचित समन्वय कर वह त्रिवेणी प्रवाहित की जो, युग-युगान्तर तक जीवन का अजस्र स्रोत बहाये हुए है । अत: कबीर के साध्य-प्राप्ति मे सहायक ज्ञान का महत्व भुलाया नही जा सकना, क्योकि ज्ञान ही तो वह सूर्य है जो भक्ति के पथ को आलोकित करता है ।

योग

'तरवरु एकु अनन्त डार शाखा पुहप पत्र रस भरीआ ।
इह अम्रित की बाड़ी है रे तिनि हरि पूरै करीआ ॥

74 पृ. ११०३, १ ।
75 पृ ९६६, ३ ।
76. पृ. ११२३, १ ।
77. पृ. ३२८, २७ ।

जानी जानी रे राजा राम की कहानी,
अन्तरिजोति राम परगासा गुर मुखि विरलै जानी।[78]

सम्भवतः कबीर अपने प्रारम्भिक जीवन में योगी रहे थे। अथवा उनका योगियों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था, कि वे न केवल यौगिक शब्दावली अपितु यौगिक क्रियाओं से भी बहुतायत से परिचित थे। उनकी वाणी इस बात का प्रमाण है। 'युज' (जोडना) से योग शब्द का अर्थ ही जोडना है, आत्मा को परमात्मा से। इसके अन्यान्य साधन हैं शारोरिक क्रियाओं द्वारा बलात् इन्द्रियो एवं मन को वश में करना ही हठ योग का उद्देश्य होता है क्योंकि 'मनु जोतै जगु जोतिआ।'[79] इतना ही नहीं उस पवित्र मन के पीछे तो स्वतः भगवान भी घूमने लगते हैं।[80] और ऐसे ही पवित्र मन वाला 'जीव ते सीउ' जीव से शिव में परिणत हो जाता है।[81] वृक्ष शरोर को उसने समझ लिया है तभी उसे "राजा राम की कहानी,[82] का पता लग गया और यह भी ज्ञात हो गया कि यह शरीर ऐसा है जा महि ज्योति करै परगास'[83] तब त्राटक से उसने ससार का ज्ञान प्राप्त कर लिया, ब्रह्मरन्ध्र में कुड़लिनी की चाबी द्वारा उसने ब्रह्मदर्शन करने का प्रयत्न किया है।[84] नव द्वारो की वृद्धियो को रोकने से ही यह सम्भव है। कोई विरला ही ऐसा है जो दशम द्वार तक पहुँच सके और अनहद नाद को श्रवण कर

78. पृ. ६७६, ६।
79. पृ. ११०३, २।
80. श्लोक ५५।
81. पृ. ३४४, १३।
82. पृ ६७०, ६।
83. पृ ११६२, १९।
84. पृ ३४१, २४।

ब्रह्म रसामृत पान करता हुआ उसी के आनन्द में तल्लीन हो जाये।[85] षटचक्र में अनुभूत ब्रह्म के कारण ही उसकी द्विविधा का नाश हो जाता है इस प्रकार जब 'उगवै सूर' तथा लगातार अहिनिसि बाजै अनहद तूर' तब जीव ने 'देखिआ तिहु लोक का पीउ'।[86] जिस योग का आडम्बर समाज को विचलित कर सकता था उसका कबीर ने दृढ़ विरोध किया। लेकिन वास्तविक योग देह की पुष्टि और मन की एकाग्रता के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति मे सहायक सिद्ध हो सकता है। इस बात को उसने स्वीकार किया है। इन्द्रियो और मन को नियन्त्रित किये बिना अनन्य और अनवरतभक्ति हो भी कैसे सकती है। अतः साध्य प्राप्ति मे कबीर को योग का विशेष सहयोग स्वीकार है। हा यह स्मरण रहे, कि उसने इष्टदायिनी दुरुह शारीरिक साधनाओ का विरोध कर सहज-योग का महत्व स्थापित किया है। 'सहज' से तात्पर्य ही उस योग का है, जो अपने आप मे ही दुसाध्य साध्य न बन कर दनिक जीवन का क्रियात्मक अग बन सके जिसके लिये निवृत्ति मार्गी एव निष्कर्मण्य जीवन व्यतीत करना आवश्यक नही, अपितु प्रवृत्ति मार्गी होते हुए भी जो सहज ही जीव को उसके साध्य की ओर अग्रसर करे, इस सहज मे लीन होने पर ही जीव का भ्रम नष्ट होता है तथा कार्यपूर्ण होता है।[87] इस सहज के कारण ही 'मरन जीवन की सका नासी'।[88] परिणाम स्वरूप चोरी २

---

85. पृ ३३४, ५३।
86. पृ ३४४, १३।
86 पृ. ३४४, १३।
87. पृ. ११६४, ६।
88 पृ. १३५६, १।

उसका 'मनुआ सहजि समाना ।'[89] इस प्रकार सहज योग साध्य-प्राप्ति का उपयुक्त साधन है।

पवित्र मन

मन जीते जगु जीतिआ'[90] मन का महत्व तो इसी से स्पष्ट है। अतः साध्य तक पहुँचने में पवित्र मन का विशेष सहयोग है। मन को पवित्र करने के लिए उसे नियन्त्रण में लाना आवश्यक है अतः

'कूटन सोइ जो मन को कूटै।
मन कूटे तउ जम ते छूटै।'[91]

पवित्र मन न केवल यम से रक्षा करवाता है अपितु भगवत्-प्राप्ति भी करवाता है। और जब 'मनु निर्मलु भइया, तो पाछे लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीर।।[92] पवित्र मन के पीछे तो भगवान स्वतः चक्कर काटता फिरता है क्योंकि पवित्र मन तो स्वत ही भगवत्रूप को प्राप्त हो जाता है।

सत्संगति

मन को पवित्र रखने के लिए सत्संगति आवश्यक हैं, 'सत संगति रामु रिदै बसाई।'[93] न केवल इतना, उसी से तो 'मुकति पदारथु पाइए'[94] और जीव का आवागमन के चक्र से छुटकारा होता है यह सत्संगति ही पहिले माया से रक्षा करती

89. पृ. ११५८, 4।
90. पृ. ११०३, २।
91. पृ. ८७२, १०।
92. श्लोक ५५।
94. पृ ६६१, १।
94. श्लोक २३१।

पुनः—

'सति सगति मिली विवेक बुद्धि होई,
पारसु परसि लोहा कंचनु सोई।'[95]

उसके बिना तो यह ससार जलती हुई भट्टी है जिसमें भुनसता हुआ जीव न कभी शान्ति ही पा सकता है और न ही भवपार पहुँच सकता है।[96] जिस प्रकार कोई भी नदी गगा में मिल कर गगा ही बन जाती है उसी प्रकार—

'सन्तन सगि कबीरा विगरइश्रो,
सो कबीर रामै होइ निवरइग्रो।'[97]

सन्त समागम से कबीर तो राम ही हो गया था। भर्तृ रि हरि ने भी तो कहा है "सत्संगति कथय किं क करोति पुंसाम्' जीव का कौन सा कार्य है जो सत्सगति से सिद्ध नही होता। अतः सत्सगति के महत्व को समझते हुए कबीर ने कहा है।

'कबीर एक घड़ी, आधी घडी, आधी हूं ते आध,
भगतन सेती गोसटे जो कीनै मो लाभ।[98]"

क्षण भर की सत्सगति भी जीवन को सफल बना देती है। इसी से तो ब्रह्ममय वातावरण बनता है सत्गुरु की प्राप्ति होती है—नाम का आधार मिलता है सत्कर्म तथा सद् गुरुओ के माध्यम से जीवन का समुचित विकास होता है और जीव ब्रह्म की ओर बढ़ता रहता है।

---

95. पृ. ४८०, २०।
96. पृ. ११०५, १०।
97. पृ. ११५८, ५।
98. श्लोक २३२।
99. पृ. ३३५, ५७।

हरि सेवा

'छूटनु हरि की सेव'। भव बन्धनों से छूटने का उत्कृष्ट साधन है हरि की सेवा। क्योंकि 'जो सुखु प्रभु गोविन्द की सेवा, सो सुखु राजि न लहिए'।[100] सम्भवतः इसी लिए—

'इस देहि कउ सिमरेइ देव।
सो देहि भजु हरि की सेव॥'[101]

देवता भी तो हरि की सेवा करने के लिये ही उस देह को आकांक्षा करते हैं। वस्तुतः 'मानस जनम का एहि लाहु'[102] मानव जीवन का यही तो उद्देश्य है। इस प्रकार मानव देह, यह जोवन हरि की सेवा के माध्यम से भगवत्प्राप्ति में विशेष सहायक है। जीव का आत्म विश्वास अपने अन्त.करण मे ब्रह्मानुभूति तथा उसके अनकूल आचरण ऐसी प्रबल आन्तरिक शक्ति है जो अनायास ही जीव को ब्रह्मोन्मुख बना देती है। अपनी आत्मा की पुकार का अनुकरण और कुछ नही, केवल ब्रह्म को आज्ञा व इच्छा का ही पालन मात्र है। क्योंकि आत्मा की पुकार के विरुद्ध कुछ भो करना भगवान से दूर जाना है परिणाम स्वरूप अपनी आत्मा की पुकार का जीवन में क्रियात्मक अनुकरण भगवत् प्राप्ति में मानव का सहायक बनता है।

इस सब के लिए भगवत्कृपा की आवश्यकता है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति के सम्पूर्ण साधनो में यह महत्वपूर्ण प्रथम तथा अन्तिम साधन है भगवत्कृपा के शेष सब साधन तो औपचारिक

---

100. ३३६, ४८। 101. पृ ११५६, ६।

मात्र हैं, यदि वे भगवत्कृपा प्राप्त करने में सहायक नही हो सकने, तो इनका कोई मूल्य नही। साधनो से प्राणतत्व का सचार करने वाली यह भगवत्कृपा है लेकिन यह किसी सौभाग्य-शाली को प्राप्त होती है इसी लिए अन्यान्य स्थलों पर कहा है—

'सारिग घर सो मिलै जो बढ भागो रे।'[102]

और जिस पर भगवत्कृपा होती है वही तो सौभाग्य शाली है।

सक्षेपतः पूर्व जन्म के अर्जित पुण्यो के कारण जीव ऐसे संस्कारों को प्राप्त करता है जिससे वह सत्कर्म और सद्गुण परक वातावरण में पनपना प्रारम्भ होता है। ऐसे ही समय सत्सगति से उसे कही सत्गुरु मिल जाता है जो नाम देकर जीव को अनन्य व अनवरत भक्ति में लगा देता है। जीवन भर उसका पथ-प्रदर्शन करता हुआ उसे निष्काम कर्मण्य जीवन तथा सत्कर्म करने को प्रेरणा देता रहता है इसी से उसका अन्तर्मन पवित्र हो आत्मा की पुकार का अनुसरण करता रहता है। एसा जोव ही कभी सौभाग्य से भगवत्कृपा को प्राप्त करता है। और भगवत्कृपा के होते ही जीव का व्यक्तित्व परमानन्द में तिरोहित हो जाता है। यह हैं भक्त के जीवन मग के विशिष्ठ पग चिह्न।

102. पृ. ३३८, ६६।

—६—

अवरोधक शक्तियाँ

मानव जीवन सघर्ष है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म का लीलाक्षेत्र। साध्य का ज्ञान होने पर साधक साधनों की सहायता ले चल पडता है लेकिन कटकाकीर्ण मार्ग के दुर्लंघ्य प्रदेशो को भूल कर, भव सागर की उत्ताल तरगो के थपेडो का अनुमान न कर। सम्भवत इसी लिए कि मानव सुख, प्रसन्नता और उन्नति चाहता है, अत: उसकी कल्पनाएँ सुखद आशाओ के सुन्दर प्रासादों का ही निर्माण कर पाती हैं, अलघ्य दुर्गम बन-खण्डो की नही। समुद्राभिमुखी प्रत्येक पहाडी झरने को न जाने कितनी चट्टानो को बहा देना पड़ता है, न जाने कितनी पर्वत शृंखलाओ से टक्कर लेनी पडती है, तब भी असख्य झरनो को रेगिस्तान आत्मसात् कर लेता है और उपयुक्त सम्बल पाने वाले कुछ थोड़े से ही समुद्र तक पहुँच पाते हैं—यही मानव की कहानी है। ठीक एसा ही उसके जीवन का भी मग है। भगवान् ने लीला रचाई है, उसने खेलना जो है। इसीलिये अपने और जीव मे एक खाई रच दी है जिसे भरने में भी जीव प्रयत्नशील रहता है। लेकिन वह ऐसा होने देना नही चाहता, क्योकि इस से खेल समाप्त हो जायेगा, इसीलिये उसने संसार की प्रवलतम शक्ति 'माया' को भेजा उस माया ने जीव और प्राणी मात्र की तो विसात ही क्या—

'जोइ खसमु है जाइआ,'
और 'पूति वापु खिलाइआ'।

उसने न केवल 'ब्रह्मा विसनु महोदेउ छलिया'[2] अपितु देवताओं पर भी अपना प्रभाव जमाया, देवताओं की तो बात ही क्या उनके भी अधिपति इन्द्र को गौतम पत्नी अहिल्या पर मोहित होते हुए देखो और इस से भी बढ़ कर स्वत· ब्रह्मा को भी अपनी पुत्री के पीछे भागते देखो, यह सारा ससार तो उसी की ठग विद्या का प्रसार मात्र है और 'इह सपनी' ऐसी हे कि 'खसमु मरै तउ न रोवै' क्योकि 'उस रखवारा अउरो होवै' वह तो ऐसी सुहागनी जगत पिआरी है' जो 'सगले जिअ जन्त की नारी' है।[3] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मोहित करने वाली वह 'नलनी सुअटा गहिओ,' सेमर की उस नलिनी की तरह आकर्षक है जिसके बीच मे तो रूई है पर बाह्य सौन्दर्य से उसने तोते को मोहित कर लिया है। सर्पिणी, डाकिनी, चोरटी, आदि न जाने उसके कितने विकृत रूप बुद्धिमानों ने देखे, सुने और अनुभव किए लेकिन फिर भी उसके जंजाल से न बच सके 'माइआ के बेधे,' देखने है तो 'जल महि मीन, दीपक पतग, काम कुचर पखी मृग, और छीय जति सभी को देखिये, इतना ही नही 'सागर इन्द्र भरतेव' भी तो, माइआ के छेदे ही तो हैं[5] योगियो के यहा माया जीव की सास बन गई है।[6] ज्ञानी, ध्यानियो को अपने अज्ञान

1. पृ. ११६४, ३।
2. पृ. ४८०, १६।
3 पृ. ८७१, ६।
4. पृ. ३३५, ५७।
5. पृ. ११६०. १३।
6. पृ. ४८२, २५।

के अंधकार में ऐसा लपेटा है कि उन्हें सत्य का कभी ज्ञान ही नही होने दिया।[7] और वह इन्द्रिय सुख को ही वास्तविक सुख समझ बैठे हैं। 'थाके नैन स्रवन सुनि थाके थाकी सुन्दरि काइआ' लेकिन 'एक न थाकसि माइआ।'[8] इसलिये जीव को सतंक किया है कि उसमें लिप्त रह कर 'क्यों विरथा जन्म गवाइआ'[9] यह माया ही है जो जीव को ज्ञान रहित करके 'कनिक कामिनि लागि' बना देती है।[9] यह कचन और कामिनी ही तो ससार के सम्पूर्ण, आकर्षण, अवगुण तथा दुष्कर्मों के उत्पादक हैं। इन्ही से काम, क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है, जिनके भ्रम में फस कर मानव अपना अमूल्य जीवन गंवा बैठता है।[10] कौनसा ऐसा अवगुण या दुष्कर्म है जो माया नहीं करवा देती? कौनसा ऐसा प्राणी व स्थल है जो इससे प्रभावित नहीं, प्राणी मात्र के गले में उसने 'तौक' और पैरो में ऐसी बेडी डाल रक्खो है कि वह योनि भ्रमण के चक्र से कभी निकल ही नहीं पाता। और जगत पिआरी के चक्र मे पडे हुए को भगवत्प्रेम की सुध ही कहां। इसीलिये मायावी कभी सुखी नही रह पाता।[11] भव-पार पहुँचने के लिये इस माया से छूटना आवश्यक है, लेकिन 'बिनु बैरागु न छूटसि माया'[12] पथ-प्रदर्शक गुरु की कृपा से जीव उसके जाल से बच सकता है, अनहद सुनने वाले योगियों के डर से वह दूर भागने लगी,[13] संतो ने माया मटकी को मथ कर उसका सार ही निकाल डाला[14] और स्वतः

7. पृ ६१, १।
8. ७६३, ४।
9. पृ. ४८२, २७।
10. पृ. ११०६, ११।
11. पृ. ३२५, ८।
12. पृ. ३३६, ३४।
13. पृ. ३३४, ५३।
14. पृ. श्लोक १८।

'माखनु खाइआ' तथा संसार बेचारा 'छाहि पीए'। इस प्रकार सारे ससार को चुराने वाली 'चोरटी माइआ' से 'एक कबीरा न मुसै'[15] जिसने माइआ' के भ्रम को ही समाप्त कर दिया है, बल्कि गुरु के डर के मारे बेचारी माया ने कबीर को ही प्रणाम किया।[16]

माया के प्रमुख अस्त्र है कचन और कामिनी। कचन चका चौंध कर देने वाली वह धन राशि है जिसके लोभ में जीव ससार का प्रत्येक कुकर्म करने को तैयार रहता है। उससे उत्पन्न अहंकार मानव को दानव बनाने मे थोडा भी विलम्ब नही करता, लेकिन यह न भूलना चाहिए कि रावण की सुवर्ण लका को जलने मे कितनी देर लगी था।[17] यही नही ससार की सम्पूर्ण सम्पत्ति कितनी अस्थिर अतः नश्वर है और जाते समय खाली हाथ 'हसु इकेला जाइ।'[18] और 'मूरखु रावनु किआ ले गइआ' क्योकि यहां तो प्राणी मात्र ने ही 'नांगे आवनु नागे जाना' है।[19] सासारिक सम्बन्धो की सत्यता मे कामिनी मोह का वर्णन किया गया है, जीव तो क्या ब्रह्मा तक को विचलित कर देने वाली यह स्त्री का कामिनी रूप ही है। जिसे सतो ने और विशेषतः कबीर ने भर पेट कोसा है, क्योकि यही सब दुगुर्णो की खान है। और प्रेम भी तो दो से नही किया जा सकता। कामिनी प्रेमी भगवत्प्रेमी नही

15. श्लोक २०।
16. पृ. ३२१, ४०।
17. पृ. ४८१, २१।
18. पृ ४७७, ६।
19. पृ ११५७, २।

हो सक ता। क्योंकि भगवान को तो अनन्य भक्त की आवश्यकता है न।

'नारि नमावै तीन गुन, जो नर पासै होए।
भक्ति, मुक्ति निज ध्यान में, पैठ सके नही कोए।'

और मानव जीवन में शेष रह ही क्या जाता है। माया, कचन और कामिनी के आकर्षण से मन को विकृत कर देती है। विकृत मन इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रख उन्हें विपथ गामी बनाता है इसका प्रधान आधार विषय और वासना ही हैं। अत' उनका विश्लेषण ही इस विषय पर समुचित प्रकाश डाल सकेगा।

विषय—

'बिखिआ अजहु सुरति सुख आसा।'[20]

जीव सांसारिक प्राणी है और उसे सासारिक विषयो में ही सुख की आशा है तो 'कैसे होइ है राजा राम निवास' सर्तक जीव भी अनायास ही वासनाओ का शिकार हो जाता है। वासनाये मन को ऐसा पापी बनाती जाती है कि वह—

'हरि का सिमरनु छाडि कै अहोई राखै नारि,
तो गधहि होइकै औतरै, भार सहै मनचारि।'[21]

इतना ही नही 'जब लग रसु तब लग नही नेह'[22] विषय रस के होते हुए भगवत्प्रेम कैसा। इसी लिये तो कबीर ने माया और भक्ति दोनो पत्नियों को एक साथ घर में रखने का दुस्साहस न किया था—और भक्ति को अपनाने से पहिले

20. पृ ३३०, ३६।   21. श्लोक । १०८
22. पृ. ३२८, २३।

माया को तिलांजलि दी थी ।[23] देश काल निरपेक्ष कबीर का अनुभूत सत्य कितना महान है हमें यह न भूल जाना चाहिये । और जो जीवन वासना का त्याग करदे 'सो गनै इन्द्र को रंक'[24] मृत्यु से डरने वाले जीव को कबीर ने और सतर्क किया—

'कहत कबीर छोड़ि बिखिआ रस इतु संगति निहचउ मरणा ।'[25]

इन्द्रियां—

विषयो के उपभोग का साधन हैं, इन्द्रियां । जब तक इन पर नियन्त्रण न हो, तब तक जीव सत्कर्म में नहीं लग सकता—

'पच पहरूआ दर महि रहत तिन्ह का नहीं पति आरा ।'[26]

इनका विश्वास हो भी कैसे. जब वासना-लिप्त देह इनका आश्रय स्थल है, अत. ये पांच इन्द्रियां शरीर के पहरेदार न होकर माया के पांच दूतों का कार्य करती हैं ।[27] मृगवत् चंचल ये ही देह की संचालिका शक्ति हैं, अतः इन्हें वश में करना आवश्यक है, अन्यथा विषवत् यह देह में फैल कर उस का ही नाश कर देंगी । [28] इन 'पच चोर' को पकड़ कर जब नाम-जप में लगा दिया जायेगा तभी तो मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी ।[29] अथवा जीव जब इनसे प्रभावित न होगा, तभी

---

23. पृ. ४८३, ३२ । 24. श्लोक १६६ ।
25. पृ. ६१, १ । 26. पृ. ३३६, ६३ ।
27 पृ. ३३१, ४० । 28. पृ ३४५, ५ ।
29. पृ. ३४४, ३ । Ram Krishna. 'Passions can't be exadicated, there can be sublimated or educated.'

उसका आध्यात्मिक जागरण होगा और 'तिन्ह ते नाहि परम पदु दूरे।'[30]

मन

'मनु जीते जगु जीतिआ।'[31]

मध्यकालीन सन्तों में से क्रान्तिद्रष्टा कबीर ने ऐसा अनुभूत सूत्र जन-समाज को दिया, जिसे सम्भवत: जनता तो न अपना सकी, लेकिन जिस किसी भी बिरले ने अपनाया, वही महान् हो गया। बादशाह के मोदीखाने में आटा तोलने वाले ने 'मनि जीते जगु जीति'[32] रूप में इसे अपनाया और वह गुरु नानक बन गया। कितना महान है यह सत्य। यह मन है कैसा ? 'इस मन कउ रूप न देखिया जाई, और रूप-रेखा हो भी कैसे सकती है ? जब कि 'इस मन कउ नहीं आवन जाना।'[33] इसीलिए तो सनक, सनन्दन भी इसे न पहि-चान सके।

यह मन अति चंचल है, दसो दिशाओ में उडने वाला पखी भइया[34] और बिरख बसेरो वाला पंखी को[35] अत. अब चाहे जहां चला जाये। इसीलिए तो हाथी की तरह मस्त मन का 'संकुरा मुकति दुआरा' में प्रवेश कैसे हो यह शेर की भांति सशक्त एव सबल भी है। सशक्त होते हुए भी यह चोरी करता है और 'देह गृहु' को लूट ले जाता है।[37] यह मन ही जब ससार में लिप्त रहता है

30. ४७८, ११।
31 पृ ११०३, २।
32 पृ. ६४०१, २८।
33. पृ. ३३०, ३६।
34. श्लोक ८६।
35. पृ. ३३७, ६४।
36. श्लोक ५८।
37. पृ. ११६३, ८।

तो वह दिन दूर नही जब ऐसे व्यक्ति के द्वार पर 'जमदीग्रा दमामा ग्राई ।'[38] इसलिए मन की चञ्चलता को दूर कर उसमें स्थिरता लानी पड़ेगी । और एक मन को मारने से ही सब दुर्गुण अपने आप नष्ट हो जायेंगे । 'मारै एक तजि जाइ घनै' अत आडम्बरी साधुओं को सतर्क किया है कि सिर को न मूंड कर कलुषित मन को मूडों (पवित्र करो) और योगियों को भी कहा है 'कूट न सोइ जउ मन कउ कूटै,' क्योंकि शारीरिक साधनो से नही अपितु मन को नियन्त्रण में कर उसके विकार छुडाने से ही जीव यम ते छूटै'[40] और विषयो से बचने पर ही तो 'राम नाम लिव लागी'[41] क्योंकि 'मन मारे बिनु भगति न होइ'[42] और भक्ति बिना मुक्ति कहां ? निमाज़ पढने वाले को नहीं, मन से लडने वाले को ही असली मुल्ला बताया है[43] और इस प्रकार मन से लड कर जिसने 'मन साधै सिदि होइ' अर्थात् जिसने मन को नियन्त्रित कर लिया, उसी ने सब सिद्धियां प्राप्त कर ली हैं और यह सिद्ध मन ही तो 'इहुमनु सकति इहु मनु सीउ,' शिव और शक्ति के समान सशक्त है और जिसने ऐसे मन को प्राप्त कर लिया 'तउ तीनि लोक की बात कहै'[45] यह देख कर हो कबीर ने इस सब का निचोड़ अपनी वाणी में प्रगटाया था 'मनु जीतै जगु जीतिआ ।'[46]

---

38 श्लोक २२७ ।
39. पृ. ३४१, २१ ।
40 पृ. ८७२, १० ।
41. पृ ३३२, ४६ ।
42. पृ. ३२६, २८ ।
43. पृ. ११५६, ११ ।
44. पृ ३४२, ३२ ।
45. पृ. ३४२, ३३ ।
46. पृ. ११०३, २ ।

अहंकार

'मेरी मेरी करते जनमु गइग्रा'[47] अहंकार की कहानी बस इतनी ही है लेकिन इतने में भी कुछ बाकी नही रह जाता और सारा जीवन समाप्त हो जाता है। जिसे 'कुल की की आनि' का घमण्ड है उसे शीघ्र ही यमराज मसानि ले जाता है।[48] जिसे सुन्दर देह का अभिमान है उसे कबीर ने 'चाम लपेटे हाड़' कह कर सतर्क किया है।[49] और 'कनक कामिनी महासुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि'[50] उस प्रकार जो अहंकार का शिकार हुआ है उसे सुवर्ण लका के मालिक रावण की दुर्दशा से परिचित करवाया है। यह अहकार ही है जो विकसित प्रतिभा को भी विकृत प्रतिभा में परिणत कर देता है और शीघ्र ही मानव को विनाश के गर्त में पहुँचा देता है, वस्तुत: इस अहंकार की उत्पादिका माया ही है जिसने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है[51] और उस भ्रम के कारण ही मानव गर्व करता है 'रावण हु ते अधिक छत्रपति खिन में ही गये बिलात।'[52] इसीलिए कबीर ने कहा है 'कहा नर गरबसि थोरी बात।" इस अह से ही 'लालच, झूठा विकार महामद' आदि सम्पूर्ण दुर्गुणो के साथ साथ विवेक एव ज्ञान भी नष्ट हो जाता है क्योकि 'अह बुद्धि मन जारिग्रो रे' इस माया के भ्रम में जिसका मेरी मेरी करते 'जन्म गइग्रो वह

47. पृ. ४७६, १५।
48. श्लोक १६६।
49. श्लोक ३७।
50. पृ. ११२४ ५।
51. पृ. ८५७, ६।
52. पृ. १२५१, १।
53. पृ. ४७६, १५।

अज्ञानी अहंकारी जीव 'खिनमहि विनसि जाइ।'[54] अभिमानी को ऊंचे खड़े उस बांस की तरह बताया, जो पार्श्ववर्ती चन्दन की सुगन्ध को ग्रहण नहीं करता।[55] इसके लिये उपर्युक्त साधन भी बताया है। "काम करत वधै अहमेव"[56] और न केवल 'तजि मन का अभिमान' पथ के ऐसे रोड़े बनो, जो पथिक को चुभे, अपितु इतने नम्र भी बनो 'जिउ धरनि महि खेह,'[57] और आत्म समर्पण के लिए तो इस अह का नितान्त विसर्जन आवश्यक है क्योंकि—

मैं नाहि कछु आहि न मोरा,
तनु धनु समु रसु गोबिन्द तेरा।[58]

इस अह के नष्ट होने पर ही भगवत् कृपा होगी और तभी जीव 'खसमु पछानि' सकेगा[59] और उससे मिलने का प्रयत्न करेगा।

दुर्गुण

'भोले भाइ मिले रघुराइया'

इसलिये—

परहरु लोभ अरु लोका चारु।
परहरु कामु, क्रोधु अह कारु॥[1]

चचल मन इन दुर्गुणों के माध्यम से ही तो जीव को भरमाता है और उन्हें ब्रह्मज्ञान से दूर अज्ञान में फँसाये रखता

54. पृ. ३३६, ६०।
55. श्लोक १२।
56. पृ. ३२४, ६।
57. श्लोक १४७।
58. पृ. ३३६, ६०।
59. पृ. ४८०, ८७
1. पृ. ३२४, ६।

है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार ही तो मानव को पथ भ्रष्ट कर देते हैं। और इसलिये शीघ्र ही उन्हे काल का ग्रास बनना पड़ता है। 'पाप करता मरि गइआ' और सत्कर्मो के बिना दुष्कर्मों से जोवन का भार बढता जाता है और यह पुलन्दा इतना भारी हो जाता है कि मानव भवसागर के पार नही पहुँच पाता। इस प्रकार दुष्कर्म एव दुर्गुण ही मानव के जीवन के लिये ग्राह के समान है।

दुस्सगति

'मूरख सिउ बोले झखभारि।

क्योकि— 'बोलत बोलत बढै विकारा'

इसलिए भलाई इसी में है, कि—"मिलै असन्तु मसटि करि रहिए' विद्वानो ने सम्भवत: इसीलिए कहा है कि मूर्खों अथवा दुष्ट जनो से न मित्रता रखे और न बैर ही। क्योकि दोनों ही अवस्थाओं में अनिष्ट की सम्भावना है। 'बासनु कारो परसिए तउ कछु लागै दागु'[62] और इतना ही नही उसके पास रहकर के तो जीव की अवस्था बेर के पास रहने वाले केले जैसी होगी, 'उह भूलै उह चीरिए'[63] ठीक उसी प्रकार दुस्सगति को चाहने वाले सत्संगति से ऐसे ही दूर भागते हैं जैसे 'माखि चन्दन पर हरै, जह बिगन्ध तह जाइ'।[64] उस प्रकार दुस्संगति वह सत्वातावरण ही नहीं बनने देती जिसमें रह कर जीव ब्रह्मोन्मुख हो सके।

---

60. श्लोक २२१।
61. पृ. ८७०, १।
62. श्लोक १३१।
63. श्लोक ८८।
64. श्लोक ६८।

बाह्याडम्बर

"माथे तिलकु हथि माला बाना।
लोगन रामु खिलौना जाना॥'[65]

कबीर ने तत्कालीन समाज के धार्मिक लोगो में पोथी-धारि पण्डे, पुराण पाठी पंडित, माला पहिनै बाह्मन, तिलक धारी ब्राह्मन, वेद-पाठी विद्वान, धूल रामाये जोगी, गेरुए पहिने सन्यासी, नगे साधु, धोखेबाज तान्त्रिक, कपटी पुजारी, बाग देते मुल्ला, कुरान की आयते पढते मौलवी, मुर्गी मारते काजी तथा हज्ज से भी लौट कर पाप करते हाजी को देखा था। उसकी प्रदीप्त अन्त: चक्षुओ ने समाज के रूप को ठीक से पहिचाना था, इसी कारण निडर होकर के उन्होने आत्मा की पुकार को सत्य की ऐसी कसौटी बनाया, जिस पर समाज के इन सब धर्म के ठेकेदारो को परखा जा सके। उसने हाथ में डाक्टर का वह नश्तर लिया जिससे वह देह के गले सडे भाग को काटता गया और स्वयं ही महरम पट्टी भी करता गया, ताकि समाज की देह नष्ट न होकर स्वस्थ व हृष्ट पुष्ट हो जावे। इसी लिये उसने जिस पण्डे को झटकारा उसे अपनी ओर अनुरक्त भी किया, जिस पडित को फटकारा उसे नया पाठ भी पढाया, जिस ब्राह्मन के दुर दुराया उसे निर्मल भी कर दिया, जिस वेद पाठी को लताड़ा उसे ऊपर भी उठाया, जिस पुजारी को धिक्कारा उसे धन्य भी कर दिया, जिस योगी को दुतकारा उसे पुचकारा भी, जिस तीर्थ यात्री को पुचकारा उसे दुलराया भी, जिस मुल्ला को डाटा उसे नया नूर भी दिखाया, जिस

---

65. पृ. ११५८, ६।

मौलवी को डपटा उसे नया सबक भी सिखाया, जिस काजी को घुडका उसकी अक्ल दुरस्त कर दी, जिस हाजी को झिडका उसको सीधा रास्ता दिखाया इस प्रकार पथ-भ्रष्ट जन-साधारण को सुपथ पर चलाया और समाज द्वारा ठुकराये हरिजनो को गले लगाया । इन कार्यों से ही कबीरा कबीर (महान) हो गया अत. उसके व्यक्तित्व के निर्माण में जहा इन बाह्याचारो के विरोध का विशेष महत्व है वहां देश की तत्कालीन, धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक विषमताओ से टक्कर लेकर अदम्य उत्साह एव साहस से उसका विरोध करते हुए नवीन समाज के निर्माण का क्षेत्र भी उसी को प्राप्त है। उसने बहती हवा के सम्मुख सीना करके न केवल उसके वेग को ही सहा था अपितु उस दिशा में आगे भी बढ़ा था। महापुरुष का यही लक्षण है, कि वह स्वतः परिस्थितियो के अनुकूल न ढल कर परिस्थितिओं को अपने अनुकूल ढालता चले, और कबीर ने यही किया। नीचे लिखी पक्तियों में इसी का विवरण मिलेगा।

ताकि विरथा होवै सेव ॥'[1]

इसीलिए उसने पत्थर पूजा का विरोध किया है क्योंकि उससे तत्कालीन समाज विकृत हो रहा था, अंधविश्वास है ही ऐसा। अतः उसने कहा है—

'तोरउ न पाती पूजउ न देवा।

1. पृ. ११६०, १२। 2. पृ. ११५८, ६।

क्योकि उसने स्वत. भी तो 'तीस बरस कछु देव न पूजा'[3] और पूजता भो क्यो ? 'पाखान गढ़ि कै मूरति कीन्ही दे कै छाती पाउ।'[4] फिर भी उसके प्रति श्रद्धा कैसे बाकी रह जाती, और यदि 'जे एह मूरति साची है तौ गढ़नहारो खाउ'[5] और उस ने कहा था 'न पाथरु बोलै न कछु देइ'[6] इसलिये उसकी पूजा बेकार है। पूजा के लिये 'भूलो मालनी' पत्ते तोडती है, उसे कहा है कि पत्ते तो चेतन पौधे के अंग है, पर जिसकी पूजा के लिये तुम इन्हें तोड़ रही हो 'सो पाहन निरजीउ।'[7] वह ब्रह्म जिसकी पूजा के लिये यह सब आडम्बर है, सर्वत्र ही विद्यमान और 'रूप रग रेख' रहित है। लेकिन ससार ने तो 'पाहन परमेसुर कीआ' और उसी को 'पूजै सभु ससार।'[8] यदि परमेश्वर कही न मिले तो पुजारियो के लिये उसे प्राप्त करना भी बड़ा आसान है और धनवानो के यहां तो भगवानो के ही ढेर लग जावे, क्योकि वह तो, 'ठाकुरु पूजहि मोलि लें,'[9] कितना सस्ता है भगवान्। लेकिन कबीर का भगवान् तो इनसे भी सस्ता है। उसके लिये तो—

'ब्रह्म पाती विसनु डारी फूल संकर देउ।
तीनि देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेउ ॥'[10]

हे जीव संसार के सभी देव तो सर्वत्र विद्यमान है मात्र उनको पहिचानने के लिये प्रज्ञाचक्षु अपेक्षित है। इस प्रकार

---

3. पृ. ४७६, १५। 4, 5 पृ. ४७६, १४।
6. पृ ११६०, १२। 7. पृ. ४७६, १४।
8. श्लोक १३६। 9. श्लोक १३५।
10. ४७६, १४।

पत्थर पूजा, तथा मूर्ति पूजा के साथ २ बहुदेवोपासना का भी विरोध करते हुए जीव को सतर्क किया है कि 'तू क्यो व्यर्थ ही 'देवी देवा पूजहि डोलहि ।'[11] लेकिन भ्रमण शील जीव का 'मन बउरा रे', जो, 'पूजन कउ बहु देव'[12] अन्यान्य तीर्थ स्थानो में उसे घुमाये लिये जाता है। जब कबीर पर कोई विश्वास नही करता तब वह पूजने वालो को कह देता है 'व्रत पूजि पूजि हिन्दु मूए,'[13] लेकिन उसके हाथ कुछ न लगा। इसलिये, उसने तो एक मात्र, 'निरंकार निरबानी' ब्रह्म की उपासना का सदेश दिया ।[14] क्योंकि—

जो हरि सा हीरा छाडि के, करहि आन की आस।
ते नर दोजक जाहिगे सति भाखै रविदास ॥'[15]

स्नान

सधिआ प्रात इस्नानु कराही।
जिउ भए दादुर पानी माही ॥[16]

सामान्य स्नान की तो बात ही छोडे यदि 'अतरि मैलु' है तब तो मेढक के समान, चाहे 'तीरथ नावै तिसु वैकुण्ठ न जाना'।[17] न केवल 'बहु तीरथ भ्रमना'[18] व्यर्थ है अपितु जो 'हठ तीरथ जाहि'[19] तथा 'गगा तीरु जो घरु करहि' और 'पीवहि निर्मलु नीरु',[20] यह सब बाह्याचार भी बैकुण्ठ नही

---

11. पृ ३३२, ४५।
12. पृ. ३३५, ५७।
13 पृ. ६५४, १।
14. पृ. १३५०, ५।
15 श्लोक २४२।
16. पृ. ३२४, ५।
17. पृ. ४८४, ३७।
18. पृ. ४७६, ५।
19. श्लोक १३५।
20. श्लोक ५४।

पहुँचा सकते। तीर्थ यात्रा, तीर्थ निवास, तीर्थ स्नान और तीर्थ मरण यदि बेकार न होते, तो काशी निवासी पण्डितो का विरोध करने के लिये कबीर काशी छोड़ कर मगहर क्यो जाते। उन्होंने यह सन्देश ही नही दिया अपितु 'सगल जनमु शिवपुरी' गवांने वाला जुलाहा सचमुच ही मरती बार 'मगहरि उठि आइआ' था[21]। यदि अब भी कबीर के धर्म को नकद धर्म न कहा जाये तो क्या कहा जाये, उन्होंने स्वत: कहा है—

बहुत बरस तपु कीआ कासी।
मरनु भइया मगहर की वासी।
कासी मगहर सम बीचारी।
ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।[22]

यह काशी और मगहर नही है जो मनुष्य को स्वर्ग अथवा-गर्दभ योनि देते हैं यह तो भक्ति ही है। यदि भगति ओछी होगी, तो वह भव-पार नही पहुँचा सकती।

व्रत

भाग, मछली खाने वाले यदि व्रत रख कर बैकुण्ठ जाना चाहें तो वह बैकुण्ठ न जाकर 'रसातल जाहि' क्योंकि सत्कर्म किये बिना दिखावटी जप, तप के साथ 'किआ वरतु किआ इस्नानु'[23] इनका भी कोई मूल्य नही। ब्राह्मणो के चौबीस उपवास और काजियों के महीने भर के रोजे क्या उन्हें भव-पार पहुँचा सकते हैं ?[24] कभी भी नही उन्होने न केवल व्रत,

---

21. पृ. ३२६, १५।
22. पृ. ३२६, १५।
23 पृ ३३७, ६३।
24. पृ. १३४६, २।

उपवास व रोजे का विरोध किया है अपितु मृतक पिण्ड और श्राद्ध की तो सविस्तार दुर्गति दर्शाते हुए कहा है—

'जीवत पितर न माने कोउ,
मूए सराध कराहि।'[25]

तथा कुछ भोजन जिसे उनके लिए अलग से डाल देते हैं, उसे 'कउआ कूकर खाही' इतना ही नही अपने मिट्टी के देवी देवता के सम्मुख 'जोउ देई जीवों की भी बलि चढ़ा देते हैं।[26] इस प्रकार उन्होने दृढ शब्दो में व्रत, उपवास रोजा, श्राद्ध, मृतक पिण्ड तथा बलि चढ़ाने का विरोध किया है और मानव को आन्तरिक दृष्टि से सदाचारी होने का सन्देश दिया है।

'जपनी काठ की किआ दिखावहि लोइ'[27] न केवल काठ की माला का अपितु 'माथे तिलकु'[28] का भी उन्होंने विरोध किया है क्योंकि—

'डण्डा, मुदरा, खिंथा आधारी।
भ्रम कै भाइ भवै भेख धारी।'[29]

धूल रमाये हुए साधुओ के छापा, तिलक, त्रिपुंण्ड, कण्ठमाला, डण्डा, मुद्रा, शृंगी सभी बाह्य भेषों का उन्होने विरोध किया है। क्योकि 'गृहु तजि वन खण्ड जाइए' ऐसे पापी साधुओं ने 'अजहु बिकार न छोड़ा' क्योकि उनका 'मनु मूदा' है।[30] इसी लिये तो चाहे उन्होने जटा भस्म लेपन किया

25. पृ. ३३२, ४५।
26. पृ. ३३२, ४५।
27. श्लोक ७५।
28. पृ. ११५८, ६।
29. पृ. ८५६, ८।
30. ८५५, ३।

और 'गुफा महि वासु किया'[31] लेकिन यह सब बेकार हैं। आडम्बरी होने के कारण उन्होने अपना नाम 'जम के पटै लिखाइआ।'[32] क्योंकि जब तक 'भगति नारदी रिदै न आई,' तब तक यह सब पहरावा और बाह्यावरण व्यर्थ है। कबीर के तिलमिला देने वाले व्यग, जब लौकिक जीवन से ग्रहण किये गये हैं तब बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए हैं।

मूड मुडाए जो सिद्धि पाइ।
मुकति भेड न गइआ काइ।।[33]

और नगे रहने से ही यदि मोक्ष मिलता है तो सभी पशु उसके अवश्य अधिकारी है।

शारीरिक कष्ट साध्य साधनाओ से अथवा तन्त्र-मन्त्र से मन को वश मे करने वालो का भी उन्होने विरोध किया है। सिमरण का महत्व बताते हुए उन्होने कहा, 'तिस के आगे तन्तु न मन्तु'[34] इस प्रकार सिर मुडा कर अथवा जटा रख कर, नगे रह कर या अधिक वस्त्र पहन कर, भस्म लगा कर या धूलि रमाकर, छापा छाप कर या तिलक धारण कर, कण्ठमाला पहिन कर या माला फेर कर, जप-तप से शरीर को जला कर या कठोर कर, कन्द-मूल खाकर अथवा उपवास कर विन्दु रक्षा कर, या आबद्ध कर, गुफा को घर बना कर या आश्रय स्थल समझ कर मृगचरो को साथी जान कर अथवा पशुमात्र समझ कर वन को ही आवास बनाकर या साधना स्थल समझ कर जिन साधुओ और योगियो ने मोक्ष प्राप्ति

---

31 पृ. ११०३, २।
32. पृ. ६५४, ३।
33. पृ. ३२४, ४।
34. पृ ६७१, ६।

का प्रयत्न किया था। उन्हें कबीर ने सतर्क किया 'भावे लाम्बे केस कर, भावे घररि मुडाइ।'[35] इतना ही नही,

कबीर मनु मूडिया नही, केस मुंडाए काइ।
जो किछु किग्रा सो मन किया, मूडा मुडु ग्रजाय।[36]

ग्रौर ऐसे ही बाह्याडम्बरियो के क्रिया कलापो को देख कर कबीर की ग्रात्मा को जो ठेस पहुँची थी। उसी का क्रन्दन इस पद मे देखने को मिलता है,

वासन मांजि चरावहि ऊपरि काठि धोइ जलावहि।[37]

इतनी पवित्रता मे भोजन बनाने वाले 'सारे मानस खावहि' मनुष्य को हा खा जाते हैं। यह देख कर ही कबीर ने उन्हे 'हरि के सन्त न कह कर 'बनारसी के ठग कहा है।[38] इसके ग्रतिरिक्त उसने बनारस मे 'मूंड पलोसि कमर बधि पोथी'[39] ऐसे ब्राह्मण भी देखे थे। सक्षेपतः उसने ग्राडम्बर का ऐसा विरोध किया था जिससे कोई ग्राडम्बरी न बच सका, जहा 'बुत पूजि पूजि हिन्दू मूए' वहा 'तुरक मुए सिर नाइ' 'जटा धारि धारि जोगी मूए तथा 'वेद पढ़े पढि पण्डित मूए' लेकिन 'तेरी गति इनहि न पाई'[40]। मूल बात यही है कि जब तक 'विखिग्रा ते होइ उदास,' जीव ने ग्रपना मन निर्मल नही कर लिया तब तक इन ग्राचारो ग्रौर ग्राडम्बरो का कोई मूल्य नही, उसने ग्रपने युग के पचमकार सेवी शाक्त को भी सतर्क किया था क्योकि भक्ति के बिना 'साकत कारी

35 श्लोक २५। 36. श्लोक १०१।
37. पृ. ४७५, २। 38 पृ. ४७५, २।
39 पृ. ८७१, ६। 40. पृ. ६५४, १

कामरी धोए होइ न संतु'[41] कबीर ने केवल हिन्दुओं के आड-म्बरों का ही विरोध किया हो ऐसी बात नही, निर्भीक उसने, मुसलमानो को आडे हाथों लिया था। क्योकि उनका सन्देश किसी मत सम्प्रदाय, धर्म या जाति सीमाओ में बद्ध न था। वह तो मानवमात्र के लिए दिव्य सन्देश था।

कबीर मुला मुनारे किआ चढहि साई न बहरा होइ।
जा कारनि तू वाग देहि दिल ही भीतरि जाइ॥[42]

वाग देने वाले मुल्ला को चेताया कि उसका खुदा न तो बहरा है और न दूर ही है। नमाज़ पढते जाते हुए 'किआ उजु पाकु कीआ मुहु धोइआ'[43] वांग को सुन कर 'वजु' (नमाज से पहिले हाथ मुह आदि धोना) करके तुम अपने को पवित्र समझते हो लेकिन जब तक 'दिल महि कपटु निवाज गुजारै'[44] तब तक बहिश्त नही पहुँच सकते इस बात को न भूलो। तसवीह (माला) तथा इबादत प्रार्थना) के चक्कर मे पडे हुए मौलवी को भी धिक्कारा है क्योकि यहा तो पवित्र भाव-नाओ का ही महत्व है और फिर 'काजी महरम जाना'[45] कह कर रमजान के महीने मे 'रोज़ा रखने का भी विरोध किया है क्योकि वह 'रोजा घरै मनावै अलहु सुआदति जीव संघारै'[46] क्योकि उसके 'दिल महि कपटु है'[47]। इसी लिये तो रोजा रखने वाला वह स्वाद के लिए जीव का संहार कर

---

41 श्लोक १००।
4 . श्लोक १८४।
43 पृ. १३५०, ४।
44 पृ. ११५८, ४
45. पृ. १३४६, २।
46 पृ ४८३ २६।
47. पृ. १३५०, ४।

लेता है। खुदा को सर्व व्यापक समझने वाले मुला से कबीर ने यह भी पूछा है, 'किउ मुरगी मारै' लेकिन इस 'हलालु' का उसके पास कोई उत्तर नही। 'पछिमि अलह मुकामा समझ कर हज पर जाने वाले काजी को भी उसने बताया है कि, 'दिल महि खोजि—एहि ठउर मुकामा'[48] और इस लिए उसने घोषणा की है—

मनु करि मका किवला करि देहि।
बोलन हारु परम गुरु ऐही॥
कहु रे मुल्ला वाग निवाज।
एक मसीति दसै दरवाज॥[49]

मन को मक्का बना कर देह को पश्चिम दिशा बनाओ और तब देह रूपी मस्जिद के दसो द्वारो से वाग देकर नमाज पढ़ो। तब कही उसे दिल मे पा सकोगे। उसने कुरान पढने को भी तब तक बेकार बताया है जब तक उसकी, 'दिल महि खबरि न होइ,[50]। इस प्रकार जहा कबीर ने नमाज करवाने वाले मुल्ला को वांग, वजु, नमाज तथा मस्जिद की सच्चाई से परिचित करवाया वहा तथाकथित धार्मिक मौलवी को कुरान की आयतो पर विचार करने के लिए प्रेरित भी किया। इतना ही नही धर्माधिकारी शेख को तसबीह और इबादत का महत्व समझाते हुए हज के असली रूप के दर्शन भी करवाये। रोजे के बाद कुरबानो से पेट भरने वाले मुर्गी मार न्यायाधिकारी काजी को न्याय का सबक

48. पृ. १३४९, २। 49. पृ ११५८, ४।
50. पृ. ४८३, २६।

सिखाया तथा अन्त मे हज से लौटते हुए निराश हाजी को सच्ची हज को सच्ची हज का राह दिखाया। इस प्रकार हिन्दु और मुसलमान का भेद भाव मिटाते हुए दोनो के खोखले बाह्याचारो आडम्बरो से उन्हे परिचत करवाया। सामाजिक क्षेत्र मे उन्होने छूतछात का विरोध कर मानवीय धरातल पर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। धर्म, जाति, लिग और देश के आधार पर मानवीय विभाजन को अनुचित बताया था। क्योकि—

गरभवास महि कुलु नही जाती।
ब्रह्म बिन्दु से सभु उतपाती।।[51]

न मानने वाले मुल्ला को फटकारते हुए उसने पूछा था कि यदि खुदा ने तुझे तुर्क बनाया है तो तू क्यो बलपूर्वक सुन्नत करता है[52]। यह कार्य भी वह स्वतः ही करेगा, मुल्ला की झुकी हुई गर्दन देख कर कबीर ने चुटकी ली—

सुनति कीए तुरकु जे होइगा,
अउरत का किआ करी ए।
अरध सरीरी नारि न छोड़ै,
ताते हिन्दु रहीऐ।।[53]

मुल्ला तो बचारा आधा हिन्दु बन गया लेकिन इतने मे ब्राह्मण 'ज्ञानलव दुर्विदग्ध' हो गया। कबीर ने झाड़ते हुये उसे भी ललकारा— तुम कत ब्रह्मन हम कत सूद।' वह मौन था कबीर ने अमोघ प्रहार किया—

---

51. पृ. ३२४, ७।
52. पृ ४७७, ८।
53. पृ. ४७७, ८।

जो तू ब्राह्मणु ब्रह्मणी जाइया
तौ आन बाट काहे नही आइआ।'[54]

कबीर का तर्क ज्ञान का तर्क नही था। वह तो अनुभूति का सत्य था। दोनो के पास उसका कोई उत्तर न था। अत: दोनो को ही कबीर ने समझाया कि 'मत हरि पूछै कउन है मेरे जाति न नाउ'[55] भगवान ने भक्त की जाति तो क्या नाम तक भी कभी नही पूछा। इसीलिए तो वह कहता है कि:—

हमरा झगडा रहा न कोउ।
पण्डित मुल्ला छाडे दोउ ॥[56]

इस प्रकार सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए छूत-छात, जात-पात तथा कर्म व्यवसाय के सभी भेदो को दूर कर भगवान के दरबार में प्रत्येक मानव की एक ही जाति का सन्देश दिया। एक ही धर्म मानव धर्म का प्रसार किया, एक ही ब्रह्म, एक मात्र पूर्ण सत्य ब्रह्म का बोध कराया। एक ही माग, अनवरत, अनन्य तल्लीनता का भक्ति मार्ग सुझाया। कौन जानता है गुरु नानक ने कितने तत्व यही से सगृहीत किये थे ? कौन जानता है अकबर का दीन इलाही इसी का अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र था ? कौन जानता है रवीन्द्र के अथाह रहस्यवाद की थाह अबोध कबीर के शब्दो मे ही छिपी हुई थी ? कौन जानता है गांधी के हिन्दू-मुस्लिम के ऐक्य की भावना का आदि स्रोत कबीर के ही कुछ पद हैं।

54 पृ. ३२४, ७।
55. श्लोक ६०।
56. पृ. ११५८, ७।

और कौन जानता है अरविन्द के आनन्दमय निष्काम कर्मण्य-जीवन के मूल आध्यात्मिक तन्तु जुलाहे के सूत से ही एकत्र किये गये हैं इसी लिये कबीर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अमर हो गये है।

कबीर की भर्त्सना में जितनी प्रचण्डता है, उसकी डाट में जितनी तीव्रता है, उसके व्यग मे जितनी मुस्कराहट है, उसके वर्णन मे जितनी सजीवता है, उसके कथन में जितनी सादगी है, उसके सन्देश में जितनी गहराई है, उसके शब्द में जितनी मर्म स्पर्शिता है, उसके काव्य में जितना रस है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति मे अनुभूति है। यही कारण है कि आडम्बर भरे सम्पूर्ण जगत के विरोधी कबीर का विरोध करके भी कुछ न कर सके। राज्य शासक उसे मार कर भी मार न सके, समाज उसका बहिष्कार करके भी उसे छोड न सका, रामानन्द उसे ठोकर लगा कर भी ठुकरा न सके, लेकिन दुःख की बात यह हैं कि हिन्दू तथा मुसलमान उसे अपना कह कर भी अपना न सके। सम्भवत: प्रत्येक दिव्यात्मा का ऐसा ही अन्त होता है और कबीर भी उसके अपवाद न थे।

—७—

संतों की सामान्य मान्यताएँ

लौकिक एव पारलौकिक जीवन मे अद्भुत सतुलन और समन्वय स्थापित कर गौरव-मय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले सन्तो ने समय समय पर समाज का पथ-प्रदर्शन कर युग-नेता का रूप ग्रहण किया है। वस्तुत. सन्त कोई व्यक्ति विशेष न होकर भावना-विशेष है, जिनका प्रसार अन्यान्य युगो मे विभिन्न व्यक्तियो के माध्यम से हुआ है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे, तो पता चलता है, कि इस भावना-विशेष के मूल तत्वो मे प्राय परिवर्तन नही होता। युग की आवश्यकता और व्यक्ति की रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप इन तत्त्वो के अनुपात और क्रियात्मक प्रसार मे थोड़ा बहुत अन्तर आता रहता है, पर इससे मूल भावना मे कोई विशेष अन्तर नही आता। भारतीय मध्य-युग के इतिहास को सार्थक बनाने के लिए ही मानो इस भावना का यहा विकास हुआ—जो कबीर जैसा सशक्त व्यक्तित्व पाकर अपने प्रौढ रूप मे प्रतिफलित हुई।

पैतृक सम्पदा में प्राप्त आर्थिक दरिद्रता और नैतिक समृद्धि संतो के जीवन का सबसे बडा आभूषण रहा है। उनके जीवन की कर्मण्यता इस आर्थिक दरिद्रता का ही वरदान हे और आन्तरिक गुणो के विकास के कारण प्रखर व्यक्तित्व इस नैतिक समृद्धि की ही देन है। समाज के तथा-कथित

निम्न-वर्ग से उद्भूत इन संतो को समाज ने ठुकराने का दुस्साहस एकत्रित किया, लेकिन कौन जानता था, कि यह दुस्साहस सतो को ही वह अदम्य शक्ति प्रदान करेगा, कि वे इस आडम्बर-पूर्ण समाज को ही ठुकरा कर अपने पीछे लगा लेगे। समाज के इस दुस्साहस ने उन्हे तन कर खडे होने की शक्ति प्रदान की। उन्हे अपनी शक्ति, सामर्थ्य और मान्यताओ पर जो विश्वास था, वह और भी दृढ़ हो गया। इस आत्मनिष्ठा और आत्म-विश्वास के बल पर वे न केवल स्वय ही खडे हुए, अपितु समाज के कुछ व्यक्तियों को भी उन्होने अपने साथ खडे पाया। यह उनकी सफलता का पहला चिह्न था। धीरे २ समाज उनकी पुकार सुनने पर विवश हो गया। फक्कड मस्ती मे कही गई कई बातो ने समाज को अनायास ही प्रभावित करना आरम्भ किया, क्योकि उनके यथार्थ-चित्रण मे सत्य का बल था, जिसको बहुत देर तक उपेक्षा नही की जा सकती। इस प्रकार सत-भावना, जो अब तक व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती थी, अब अविछिन्न धारा के रूप में सामाजिक परम्परा ही बन गई। मध्य-युगीन भारतीय समाज को इन सतो की यह सबसे बडी देन है। यह अविछिन्न सामाजिक परम्परा ही सतो की सामान्य मान्यताओं की साधन-भूमि है। एक परम्परा में चली आने वाली मान्यताओं मे कोई परिवर्तन न हुआ हो, ऐसी बात नही, लेकिन इस परिवर्तन का सम्बन्ध उनके मूल-तत्त्वो से न होकर उनकी अभिव्यक्ति या उनके बाह्य आवरण-मात्र से ही अधिक है इस प्रकार कबीर से कुछ पहले से ही सत विचाराधारा के जो तत्त्व विकसित हो रहे थे, वे न केवल कबीर मे पूर्णतया विकसित और सम्बद्ध

होकर प्रकट हुए, अपितु देर तक समाज को प्रभावित करने वाली सशक्त विचारधारा के रूप मे तब से उसकी अविछिन्न परम्परा भी प्रवाहित हो चली जो आज तक इस देश मे उसी तरह जीवित और जागृत है। सच पूछा जावे, तो रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा विनोबा भावे उसी परम्परा के आधुनिकतम फल हैं।

संतो का समष्टिगत व्यक्तित्व इन सामान्य मान्यताओ की आधार-भूमि है। लौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना उन्होने एक ही व्यक्तित्व के माध्यम से की है। सांसारिक विषमताओ से घबराकर वे जंगल मे भाग कर ब्रह्म की साधना करने नही चले गए, बल्कि कर्मण्य जीवन बिता कर उनसे जूझ पड़े, इस प्रकार लौकिक उलझनो को क्रियात्मक जीवन के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया। और इस क्रियात्मक कर्मण्य जीवन के माध्यम से अनायास ही उनकी परलोक की साधना भी होती रही। वे न कभी मंदिर गए, न मूर्ति-पूजा की। व्रत, तीर्थ, स्नान, उपवास और माला फेरने से भी वे कोसो दूर रहे, फिर भी इस प्रकार के आचार-प्रधान ब्राह्मणो से वे कही अधिक धार्मिक बने रहे। इन ब्राह्मणो ने पार्थिव और पारलौकिक जगत में समाज के लिए जो खाई पाट रक्खो थी, वैयक्तिक विचार और आचार से इन्होने न केवल उसे भर दिया, अपितु जन-मानस के लिये प्रशस्त राज-पथ का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वस्थ आचरणगत जीवन इनकी सामान्य मान्यताओ का सबसे सशक्त आधार है।

समाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सास्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओ का उन्होने वैयक्तिक जीवन के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उचित साधन और सत्य साध्य पर विश्वास ने उन्हे जो आन्तरिक शक्ति प्रदान की थी, उसी के बल पर वे इन समस्याओ से घबराए नही। यह ठीक है, कि वैयक्तिक सामर्थ्य की सीमाओ के कारण वे इस में से बहुत कम समस्याओ का समाधान प्रस्तुत कर सके, लेकिन अधिक महत्व-पूर्ण यह है, कि ये विषमताएँ उनके व्यक्तित्व को विशृखलित न कर सकी और वे सदा इनसे जूझते ही रहे—भागे कभी नही और इसी लिए हारे भी कभी नही। धार्मिक आडम्बरो और आवरणो का उन्होने खुलकर विरोध किया। (सामाजिक कुरीतियो को उन्होने कभी स्वीकार नही किया और यथा-सम्भव उन पर भी कुठाराघात किया। राजनैतिक अत्याचारो से जूझते २ उन्होने सिर तक कटा दिया, पर उसे झुकने नही दिया—यह क्या कम है। और आर्थिक दरिद्रता से अपने को उभारने के लिये कोई जीवन-भर कपडा बुनता रहा, तो कोई जूतिया ही गाठता रहा—यह उनके जीवन की महानता नही तो और क्या है। कुल मिलाकर समाज की किसी भी शक्ति के प्रहार से उन्होने अपने व्यक्तित्व को विघटित नही होने दिया यही उनकी सफलता का रहस्य है। इसीलिए वे सत-व्यक्तित्व की परम्परा मे संत-भावना की ज्योति को जीवित और जागृत रख सके। जीवन की सभी समस्याओ के प्रति उनकी यह सतुलित दृष्टि उनके सुरक्षित व्यक्तित्व की परम्परा को बनाए रख सकी।

इसी व्यक्तित्व के कारण उनकी जीवन और जगत् के प्रति विशेष दृष्टि विकसित हुई। विश्व की चतुर्दिक समृद्धि और उसकी सामग्री उनके जीवन-यापन में साधन से अधिक कोई स्थान न ग्रहण कर सकी। उनका लक्ष्य सदा ही इससे भिन्न रहा। इसीलिए उनमे कभी ईर्ष्या न हुई और उस साध्य की ओर बढते हुए भी वे सब इकट्ठे ही रहे। अलौकिक साध्य को स्वीकार करने के कारण उनके जीवन-दर्शन में एकरूपता के साथ २ स्थायित्व भी बना रहा। वस्तुत. जीवन-दर्शन मे इस समता ने ही सत-भावना की नीव को दृढता और स्थिरता प्रदान की।

वैयक्तिक जीवन में सभी संतों ने अनुभूति का महत्व स्वीकार किया है। और इसी आधार पर उन्होने क्रियात्मक जीवन बिताया है। यह अनुभूति ही उनके धर्म की आधार भूमि थी। इसीलिए सामाजिक परम्परा मे मान्यता प्राप्त आचारों को भी उन्होने वही तक प्रश्रय दिया, जहा तक वे उनकी अनुभूति की कसौटी पर खरे उतरे थे। उन सामाजिक या धार्मिक आचारो और विश्वासो का उनके जीवन मे कोई स्थान न था, जो उनकी अनुभूति की कसौटी पर पूरे न उतरे थे। इस प्रकार उनका जीवन वैयक्तिक पहले था, सामाजिक बाद में।

इनकी जीवन-दृष्टि मूलतः मानवता-वादी थी। इसी लिए छींबा, दर्जी, नाई, जुलाहा, चमार और राजा सभी एक भक्ति के सूत्र में पिरोये जाकर 'सत-माला' के जगमगाते 'माणिक' बन गये। गत छः सात शताब्दियों में भारत में

हजारो सत समुदायो ने जन्म लिया, लेकिन इस मानवतावादी दृष्टि से कोई भी दूर न रह सका। धर्म, अर्थ, कर्म व जाति के आधार पर मानव-समाज का विभाजन किसी ने भी स्वीकार नही किया। इतना ही नही, उत्तराधिकारी के चुनाव मे भी इनमे से किसी आधार या पुत्र-परम्परा को भी स्वीकार न किया गया, अपितु जिस- शिष्य में मानवीय तत्त्व सर्वाधिक विकसित हो सके हैं, उसे ही गद्दी का अधिकारी बनाया गया। वैयक्तिक स्वार्थो के कारण सदा हो इसके विरुद्ध विद्रोह हुआ है, लेकिन मानवतावादी दृष्टि इस विद्रोह के सम्मुख कभी झुकी नही—इसी से इसका महत्व स्पष्ट है।

सतो ने काव्य-निर्माण का बीडा कभी नही उठाया था और न ही काव्य-गत विशेषताओ से उनका कोई परिचय ही था। कभी २ वैयक्तिक आह्लाद मे वे गाने पर विवश हो गये थे। इस आन्तरिक विवशता में अनुभूति की जो अभिव्यक्ति हुई अथवा जन-सामान्य को जिस वाणी में उन्होने अपना सन्देश दिया, उसे हम उनका काव्य समझ बैठे। मूलत: काव्यत्व तो उनके सदेश का बहुत गौण तत्त्व था, इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से इसका मूल्याकन करने वाले इनके साथ न्याय न कर सके। उनके सम्पूर्ण काव्य का प्रेरणा स्रोत वैयक्तिक आनन्द तथा सामाजिक संदेश रहा है, अतः मूल्याकन करते हुए हम इसे भुला नही सकते।

सत-भावना की यह सामान्य पृष्ठभूमि थी, जिस पर विचारधारा विशेष का प्रासाद निर्मित हुआ। आगामी पक्तियों

मे इसका विशेषताओ का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है।

सतो का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आाद कोटियो मे नही रक्खा जा सकता। वस्तुत सतों ने उसे बौद्धिक या तार्किक-पद्धति का आधार नही प्रदान किया, अत इस दृष्टि से उसकी उचित व्याख्या भी नही हो सकती। कबीर के ब्रह्म पर विचार करते हुए हम देख आए हैं, कि वह न केवल इन्द्रियातीत है, अपितु वह तो निर्गुण सगुणातीत भी है। वह तो केवल अनुभूति का विषय है। इसीलिए उसके स्वरूप और गुणो की अन्यान्य व्याख्याओ के बाद भी कभी कोई सत सतुष्ट नही आ कि वह समाज के लिये ब्रह्म के रूप का स्पष्टीकरण कर सका है।

उसका गुण-गान करते 'सुर नर मुनि जन' का तो कहना ही क्या स्वत· ब्रह्मा तक थक गए, लेकिन अनन्त का कोई अत न पा सके। उपनिषदो की तरह ब्रह्म की 'नेति'-परक व्याख्या भी यहां मिलती है, उसे सर्वज्ञ, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी सर्वकर्त्ता, सर्व-नियता आदि स्वीकार किया गया है। मूलत निर्गुण वह अनिर्वचनीय है, लेकिन गुणो के माध्यम से जब उसके स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह सगुण-निराकार रूप ग्रहण कर लेता है। लेकिन संतो का सगुण-निराकार स्वरूप भी तुलसी जैसा सगुण नही, क्योकि वह तो लौकिक गुणो से अतीत ही है, इसलिये मूलतः हम उसे निर्गुण ही स्वीकार करते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का प्रसार है, लेकिन वह स्वतः

अविकृत और निर्लिप्त रहता है। सृष्टि का एक मात्र वही उपादान और निमित्त कारण है। सतो की दृष्टि मे सृष्टि शकरवत् मिथ्या नही, वह सत्य है, क्योकि सत्य ब्रह्म का ही प्रसार है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी-जीव भी उसी तरह सत्य है। वस्तुत: आत्मा और और परमात्मा से उन्होने अशाशि सम्बन्ध को स्वीकार किया है। 'अग्नि-स्फुलिंगवत्' जीव मे ब्रह्म के सब गुण हैं, उन्हें वह विकसित कर ब्रह्म से तादात्म्य और ऐक्य स्थापित कर अपने व्यक्तित्व का उसी मे तिरोहण कर सकता है। यह जीव के जीवन का लक्ष्य या साध्य है जो प्राप्त करना दुष्कर है, लेकिन सतो ने मानव को सदा इसके प्रति सतर्क किया है, और इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी और मार्ग भी बताया है। इस भेद के आभास का कारण उन्होने सर्पिणी माया को बताया है। वस्तुत: माया ही जीव को भरमा कर इस ससार के प्रलोभनों में फसा देती है और उसे लक्ष्य से पथ-भ्रष्ट कर देती है। इन्द्रियो के वश में होने के कारण जीव मूलत. कचन और कामिनी का शिकार हो जाता है। लौकिक समृद्धि की चाह उसे सब प्रकार के दुष्कर्मो की प्रेरणा देती है और कामिनी-नारी मानव की वासनाओ को उभार कर उसके चित्त को मलिन कर देती है। सतो ने इनका विरोध नही किया, अपितु इनका परिहार किया है। भरमाने वाली माया से जीव को सतर्क करते हुए उन्होने अनावश्यक धन-सग्रह को जहा बुरा बताया है, वहां पूर्णत: कामिनी मे लिप्त हो जाने को भी भरपेट निन्दा की है। लेकिन धन और स्त्री को न छूने वाले साधुओं में भी वे न थे। अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए उन्होने कर्मण्य गृहस्थ जीवन बिताया, लेकिन उसे ही सब

कुछ नही समझ बैठे। उन्होने लौकिक और पारलौकिक जीवन में अद्भुत संतुलन स्थापित किया हुआ था। इसीलिए कबीर को अपनी मा के उलाहनो का शिकार बनना पडा था, लेकिन भावात्मक आवेश मे उसने अपनी विचारधारा का त्याग नही किया था, यही उसके व्यक्तित्व की महानता थी। वस्तुत: जहा एक ओर इन संतों ने माया-लिप्त हो धन-संग्रह का विरोध किया था, वहा अकर्मण्य-जीवन का भी उतनी ही शक्ति-पूर्वक विरोध किया था। इसी प्रकार गृहस्थ मे लिप्त गृहस्थियो और पलायनवादी साधुओ—दोनो का ही उन्होने विरोध किया था। सच पूछा जावे, तो इसी से उनके 'सहज-पथ' का निर्माण हुआ है। प्रकृति के स्वाभाविक नियमो को उन्होने सहज रूप में अपनाया और क्रियात्मक जीवन के माध्यम से जन-समाज को अपनाने का संदेश भी दिया।

वह युग अन्तर्विरोधो का युग था। ज्ञानियो के शुष्क-ज्ञान ने उनके अहकार को अवश्य जागृत किया था, पर उनका बौद्धिक संतोष न कर सका था। सतो ने ज्ञानाधारित सत्यो को वहाँ तक अपनाया, जहा तक वे जीवन बोझिल न बनाने वाले सिद्ध हुए। ज्ञान को अपनाए बिना उसकी बात करने वालो को उन्होने धिक्कारा है। इसीलिए वेदो इत्यादि पुस्तकी-विद्या की निन्दा नही की, अपितु उसे समझे बिना अपनाने का राग अलापने वालो को आडे हाथो लिया है। उनकी कृतियों मे कही कही पुस्तकी-विद्या का विरोध भी प्रतीत होता है, उससे भी मूल-भाव उसके ज्ञान को न अपनाने वालों का ही विरोध है। अनुभूत्याधारित ज्ञान को इन्होंने सर्वत्र ही प्रश्रय दिया है।

जनसमाज में विभिन्न सम्प्रदायो के माध्यम से प्रसरित होने वाली भक्ति में उन्होने भाव का अभाव पाया। इसी लिए भक्ति के बाह्य आवरण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए, परन्तु उसकी आन्तरिक-शक्ति क्षीण होती गई। सन्तो ने भाव-हीन आवरणो और आडम्बरो का जी भर कर विरोध किया। मूर्त्ति-पूजा करने वालो का अन्तर में बैठी मूर्ति से परिचय कराया, मन्दिर जाने वालो को मन-मन्दिर की याद दिलाई, 'कर का मनका' फेरने वालो को 'मन का मनका' ला पकडाया, तीर्थो मे भ्रमण करने वालो को सत्गुरु रूपी तीर्थ के दर्शन करवाये, गंगा-स्नान करने वालो को अन्त स्नान का पाठ पढाया, व्रत रखने वालो को वास्तविक व्रत का महत्त्व बताया, इन आवरणो के माध्यम से भक्ति अपनाने मे प्रयत्नशीलो को भक्ति के मूल तत्त्व भाव-पूर्ण 'नाम' का वरदान दिया। इस प्रकार भक्ति का भी इन्होने विरोध नही किया, अपितु उसे परिष्कृत रूप प्रदान कर सहज और स्वाभाविक बना दिया, ताकि जन-सामान्य भाव पूर्ण हृदय से—बिना किसी आडम्बर के भी उसे अपना सके।

योगियो की जटिल दहिक क्रियाओ मे फस कर योग ने भी विकट रूप धारण कर लिया था। सन्तो ने इस जटिलता का विरोध कर उसे सहज बनाया। जहा तक स्वास्थ्य-रक्षा का सम्बन्ध है, उन्होने सशक्त, स्वस्थ देह को निर्मित करने का सन्देश दिया है, लेकिन विकृत साधनाओ के माध्यम से उसे अनावश्यक रूप से कष्ट-सहिष्णु बनाने का खुल कर विरोध किया है। केवल देह को कष्ट देकर यौगिक क्रियाओ के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति या ब्रह्म-दर्शन से उन्होने असहमति प्रकट की है।

नही है। इस 'नाम' मे अनन्यता, एकाग्रता और अनवरत तल्लीनता भक्त को सफलता प्रदान करने वाले विशिष्ट तत्त्व हैं। सन्तो ने नाम को इतना महत्त्व दिया, इसी से इनके मार्ग को कइयो ने 'नाम-मार्ग' तक की सज्ञा प्रदान कर दी हैं। नाम कोई भी हो, उसका उतना महत्त्व नही जितना उसमें अन्तर्हित भाव का। और नाम तो उस भाव को ही जागृत रखने का साधन मात्र है। सच पूछा जावे, तो सत्गुरु और नाम को अर्जित नही किया जा सकता, यह तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है और यह भगवत्कृपा कब हो, यह कोई नही जान सकता। व्यक्ति भाव परायण होकर सत्कर्म करता चले, यदि उसके विश्वास मे बल होगा, निश्चय में दृढता होगी, भक्ति मे अनन्यता होती, तो भगवत्कृपा भी कभी न कभी हो ही जावेगी। और जब भगवत्कृपा हो गई, तो कोई समस्या शेष नही रह जाती। सन्तो ने एक स्वर से भगवत्कृपा को ही सर्वप्रधान साधन स्वीकार किया है। सत्कर्म, सत्सगति सत्गुरु आदि इसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर सकते है, इससे अधिक कुछ नही।

अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने आलंकारिक चमत्कारमयी वाणी का आश्रय नही लिया, अपितु भाषा की सरलता, स्पष्टता और शक्तिमत्ता ने ही उनकी शैली को साहित्यिकता प्रदान की है। न उनके मन मे, न उनकी विचारधारा में किसी प्रकार का दुराव-छिपाव था, और न ही अभिव्यक्ति मे कोई वक्रता। हा उनके सीधे-सादे परन्तु सशक्त व्यंगो में आडम्बरवादियो को तिलमिला देने की अद्भुत सामर्थ्य थी, यही उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति है। इसका

यह मतलब नही, कि उनकी वाणी मे नम्रता न हो। भगवान के सम्मुख उनकी विनयिता की हद होती है -- उनका अपना तो अस्तित्व ही नही रहता। वस्तुत उनकी अभिव्यक्ति को उनकी विचारधारा नही, भावधारा ढालती रही है, इसी से वह सहज, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बन सकी है। सीधा जन-मन के हृदय को प्रभावित करती है, इससे बढकर उसकी निश्छलता का प्रमाण हो भी क्या सकता है।

सन्त-भावना किसी सम्प्रदाय-विशेष मे आबद्ध नही हुई, इसीलिए अन्यान्य सम्प्रदायो के माध्यम से इस एक ही भावना का विकास होता रहा और हो रहा है। यह मानवीय धरातल पर विकसित हुई है। किसी भी धर्म, कर्म, अर्थ और जाति के वर्ग का व्यक्ति इसे अनायास हो अपना सकता था और जब चाहे इसका त्याग भी कर सकता था। यहा किसी प्रकार का बन्धन न था, जाति या वर्ग बहिष्कृत करने की आवश्यकता न थी। सन्तो की मान्यताओं का धरातल बडा व्यापक था। वस्तुत उनकी मान्यताओ की आधार-भूमि एक ही थी, अत उन पर जिस क्रियात्मक जीवन या जीवन-दर्शन का विकास हुआ, उसके मूल-तत्त्वो मे कोई अन्तर न आया। इस भावना के स्थायित्व का कारण इसकी सहज स्वाभाविकता है। कृत्रिम क्रिया-कलापो को इसमें स्थान न दे कर सन्तो ने इसे विशिष्ट नही होने दिया। बाह्य आवरणो, आडम्बरो या कर्मकाण्डो के अभाव ने इसे भाव-प्रधान बना रहने मे सहायता दी। इस प्रकार सकीर्णता के आधार-स्तम्भो के अभाव मे इसे कम विरोध सहना पड़ा और यह सामान्य धरातल पर विकसित होती गई। वैयक्तिक चारित्रिक दृढ़ता ने इसे और भी

शक्ति प्रदान की। समाज के किसी भी वर्ग से आने वाले चरित्रवान् व्यक्ति ने इसे हँस कर अपनाया, यदि नही भी अपनाया तो कम से कम इसका विरोध नही किया। इस प्रकार प्रत्येक युग के, सभी वर्गो के चरित्रवान् व्यक्तियो का आश्रय पाकर यह सशक्त हती गई।

वैज्ञानिक प्रगति और राजनैतिक अशांति के इस युग मे आज राजनीतिज्ञो ने 'विश्व-सरकार' की आवश्यकता अनुभव की है। यह समस्या का बहुत ऊपरी समाधान है। यदि और गहराई मे जाकर मानव-मानव को निकट लाने का प्रयत्न किया जावे, तो वह 'मानव-धर्म' और कुछ नही, इन सन्तो की सामान्य मान्यताओं का ही विकसित एव परिष्कृत रूप है। सन्तो की मान्यताओ का महत्त्व इसी से स्पष्ट है। धरा-धाम का उद्धार करने वाले, मानव-मानव को एकता का सन्देश देने वाले, जीवन में अलौकिक-रस का सचार करने वाले, विश्व मे शान्ति का प्रसार करने वाले सन्तो और उनकी मान्यताओ का यह सक्षिप्त-सा लेखा-जोखा है।